सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी

(भाग ३)

स्वामी निरंजन

लेखक की लेखनी

सभी प्राणी दुःखों की कारण सहित पूर्णतया निवृत्ति एवं अखंडानन्दानुभूति चाहते हैं । इस चाह का नाम ही मुक्ति या परम पुरूषार्थ है । कोई भी प्राणी बन्धन, अशान्ति, दुःखों में रहना नहीं चाहता है, किन्तु अपने ही संकल्पों, विचारों के जाल में फँसकर शोक-मोह ग्रस्त हो दुःख भोग रहा है । इस दुःख बन्धन को तोड़ना ही मोक्ष है ।

उपनिषद् मतानुसार अध्यात्म विद्या ही एक मात्र ऐसी विद्या है जो जीव को समस्त दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दानुभूति बिना जड़, कर्म, साधना के करा सकती है ।

इस भौतिक वैज्ञानिक युग में प्राय: प्रात: से शयन करने तक लोगों का समय जीवन निर्वाह में ही अपर्याप्तसा हो रहा है फिर उन्हें अपने कल्याणार्थ कुछ करने, पढ़ने, सुनने, सोचने, का समय तो मिल ही कैसे सकेगा ? फिर ऐसे व्यवहार में आसक्त दुःखी लोग यदि वेद, उपनिषद, पुराण, इतिहास, गीता, भागवत, योगादि दर्शन शास्त्रों का स्वाध्याय कर लें तो भी वे अपने मन में उठने वाले आध्यात्मिक संशयों का समाधान अपनी बुद्धि द्वारा उन ग्रन्थोंमे खोज निकालना उनके लिये कदापि सम्भव नहीं हो सकेगा ।

जिज्ञासुओं द्वारा नाना प्रश्न जो साधन काल में उठते हैं उन्हें संग्रहित कर यह प्रश्नोत्तर माला को ग्रन्थाकार रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास मुमुक्षुओं के लिए किया गया है । जिसमें साधना के प्रथम सोपान से लेकर साधना के अन्तिम सोपान तक उठने वाले संशयों का बहुत ही सरल युक्ति एवं शास्त्र प्रमाण द्वारा किया है ।

पाठकों से निवेदन है कि वे इसे श्रद्धा पूर्वक किसी सद्गुरु के श्रीमुख द्वारा श्रवण करें ताकि शीघ्र ही मनन, निदिध्यासन प्रक्रिया द्वारा अपने को देह से भिन्न द्रष्टा, साक्षी आत्मा रूप जानने में समर्थ हो सकेंगे । फिर निदिध्यासन की परिपक्वता से समत्व बुद्धि योग को प्राप्त होकर सर्वत्र एक निजात्म स्वरूप का ही अनुभव कर सकेंगे । जब एक ब्रह्म के अलावा कुछ अन्य नहीं है ऐसी वेदान्त घोषणा है, तब जीव कहाँ है ? तब कर्म एवं कर्ता कहाँ है ? तब जगत् कहाँ है ? तब भोक्ता कहाँ है ? तब बन्ध एवं मोक्ष कहाँ है ? सब भ्रान्ति मात्र है । केवल एक ब्रह्म ही सत्य है । ''नेह नानास्ति किंचिन्'' ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'

जो सम्पूर्ण ग्रन्थों का सार है । जो साधक, भक्त, योगी, सिद्ध, लेखक, पाठक का लक्ष्य एवं विश्राम स्थल है । वह क्या है ? यदि कोई पूछे तो इतना ही कहा जा सकता है । ''तत्त्वमसि'' ''वह तू है'' । जो इस रहस्य को सद्गुरु कृपा से जान लेता है वही प्रकृत ब्राह्मण, संन्यासी, त्यागी, योगी एवं भक्त है । परमात्मा को आत्मा रूप जाने बिना कोई कितना ही भेद भक्ति रूप जड़ कर्म, हठयोग करें, वह मन्द बुद्धि वाला देव पशु ही कहलाने का अधिकारी है ।

प्रश्नोत्तर के रूप में यह विचारों का शास्त्र मुमुक्षुओं के अनादिकालीन समस्त संशयों एवं मनो जाल को काट कर उसे मुक्त स्वरूप का अनुभव करा देगा । यदि जिज्ञासु इसे श्रद्धा पूर्वक स्वाध्याय का विषय बनावेंगे तो वह सूर्योदय के साथ अंधकार नाश की तरह अपना स्वयं प्रकाश स्वरूप प्रकट होकर समस्त अज्ञान अन्धकार राशी को समाप्त कर देगा ।

साधारण से साधारण संस्कार वाले अन्त:करण से लेकर विचार प्रधान जिज्ञासु को यह ग्रन्थ लाभकारी सिद्ध होगा ऐसी मेरी सद्भावना है । जब आप अपने स्वरूप को पहचान लेंगे तब आपका अन्तर तृप्त, पवित्र एवं प्रशांत हो जावेगा । जिसके परिणाम स्वरूप आपको न मौत का भय होगा न

जन्म का दुःख होगा । न गृहस्थ, व्यवहार, बन्धन एवं बोझ रूप होगा । तब आपके श्वाँस-श्वाँस में भीतर-बाहर सर्वत्र सर्वरूप परमात्मानुभूति ही होती रहेगी । आप परमात्मा से अपने को किंचित् भी भिन्न एवं दूर न समझें । अपने को परमात्मा से भिन्न मानना ही दुःख एवं बन्धन है तथा परमात्मा को सोऽहम् रूप गुरु कृपा से जानना ही मोक्ष है । दस-बीस आसन, प्राणायाम, मुद्रा कला जानने वाले आप अपूर्ण होने पर भी अपने में पूर्णता का अहंकार रखने वाले अज्ञानी साधक इस राज योग, ब्रह्म विद्या के महातप, महायोग, महासिद्धि के चमत्कार को कैसे जान सकेंगे ? किन्तु श्रद्धावान् को ही सद्गुरु कृपा से आत्मा ज्ञान एवं आत्म ज्ञान से ही मुक्ति की अनुभूति होती है । यह आत्म तत्त्व ही जानने, सुनने, देखने,मनन करने योग्य है । ऐसा याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश करते हैं । ''आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्य: मनतव्य: विदिध्यासितव्य:'' यह आत्म तत्त्व ही जानने योग्य है श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने योग्य है और वह तुम ही हो ।

पाठकों को सूचित किया जाता है,अब चौथा भाग भी प्रकाशित हो चुका है ।

स्वामी निरंजन

प्रश्न-१ : आत्म देव का साक्षात्कार कैसे हो ?

उत्तर : अवान्तर वाक्य द्वारा असत्वापादक (ब्रह्मात्मा नहीं है) इस आवरण का नाश हो जाता है । तथा महावाक्य द्वारा अभानापादक (मैं ब्रह्म को नहीं जानता) आवरण दूर हो जाता है । लक्षणा द्वारा शोधित उपाधि रहित कूटस्थ आत्मा जो निर्विकल्प, शुद्ध चित् स्वरूप का जाग्रत और सुषुप्ति की सन्धि, सुषुप्ति और स्वप्न की सन्धि एवं स्वप्न और जाग्रतावस्था में प्रत्येक दो वृत्तियों के समय के बीच में अनुभव होता है ।

नष्टे पूर्व विकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्प चैतन्य स्पष्ट तावद् विभासते ।।

अर्थात् पूर्व विकल्प के नष्ट हो जाने पर जब तक दूसरे विकल्प का उदय नहीं होता, तब तक निर्विकल्प चैतन्य स्पष्ट रूप से विभासित होता है । सन्धि उसका उपलक्षण है । इस प्रकार सन्धि से उपलक्षित निर्विकल्प चैतन्य को ही सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, अनन्त, अखण्ड, अपरिच्छिन्न, असंग, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव जान लेना ही आत्म साक्षात्कार है ।

वस्तुतः आत्मा, स्वयं प्रकाश, नित्य, उदय-अस्त से रहित, आगमापायी स्वभाव से रहित स्वतः सिद्ध है । आत्मा कभी अभाव रूप नहीं होता है । जिस प्रकार दर्पण के बिना अपने प्रतिबिम्ब का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार आत्म दर्शन बिना विषय दर्शन नहीं होता । आत्म दर्शन पूर्वक ही विषय दर्शन होता है । जैसे स्वर्ण दर्शन पूर्वक ही अलंकार दर्शन होता है । स्वर्ण दर्शन बिना कोई अलंकार दर्शन नहीं हो सकता ।

जिस प्रकार दर्पण गत प्रतिबिम्बों में बुद्धि अटक जाने से शुद्ध दर्पण सम्मुख प्रत्यक्ष होते हुए भी वह सत्ता हीन पदार्थ की तरह अदृश्य हो जाता है

। दृश्य प्रतिबिम्ब से दृष्टि हटने पर वह निराकार शुद्ध दर्पण स्पष्ट भासित होने लगता है । इसी प्रकार विषय चिन्तन से आत्मानुभूति तिरोहित हो जाती है । जब शान्त चित्त से विचार किया जाता है, तब प्रज्ञा दृश्य प्रपंच को मिथ्या जानकर, आत्म तत्त्व जो ज्ञेय रहित केवल शुद्ध ज्ञान रूप है, उसे स्पर्श करने लगती है, यही ब्रह्म साक्षात्कार है । परतत्त्व विदित तथा अविदित से परे है । जो बुद्धि की जानकारी में इन्द्रियों की पकड़ में आ जाता है, वह परम तत्त्व नहीं हो सकता । उसे तो **''योबुद्धेः परतस्तुसः''** कहा गया है अथवा सर्वधी साक्षी भूतम् कहा है अर्थात् वह परमात्मा समस्त बुद्धियों का प्रकाशक है ।

नींद आने से पूर्व एवं जाग्रत के अन्तिम विचार के मध्य काल का जो प्रकाशक है वह साक्षी आत्मा हमारा स्वरूप है ।

प्रश्न-२ : एक आत्मा द्रष्टा कैसे है ?

उत्तर : अद्वैत या मायावाद को परिपुष्ट करने वाली तीन विचारधारा प्रचलित है (१) अजातवाद (२) दृष्टि सृष्टिवाद (३) सृष्टि दृष्टिवाद । सृष्टि दृष्टिवाद के अन्तर्गत भी पुनः तीन भेद है (१) बिम्ब प्रतिबिम्बवाद (२) अवच्छेदवाद (३) आभासवाद ।

सृष्टि दृष्टिवाद में तीन सत्ताएँ स्वीकार की है -

(१) पारमार्थिक सत्ता (२) व्यावहारिक सत्ता (३) प्रातिभासिक सत्ता ।

(१) पारमार्थिक सत्ताः- वह है, जिसका किसी काल में भी बाध नहीं होता । जैसे मैं, आत्मा, ब्रह्म है ।

(२) व्यावहारिक सत्ताः- उसको कहते हैं जिसमें यह स्थूल, सूक्ष्म विश्व ब्रह्माण्ड दृष्टिगोचर होता है । फिर इस जगत् का ब्रह्मज्ञान होने से बाध हो जाता है ।

(३) प्रातिभासिक सत्ताः- उसे कहते हैं जिसके पदार्थ प्रतीतिमात्र ही होते हैं । जैसे स्वप्न के पदार्थ, रज्जु का सर्प, सीप की चाँदी आदि प्रतीति काल में ही उत्पत्ति एवं प्रतीत काल के अन्त के साथ ही अन्त भी हो जाता है ।

दृष्टि सृष्टिवाद में पारमार्थिक तथा प्रातिभासिक दो ही सत्ता को स्वीकार किया जाता है । जगत् की व्यावहारिक सत्ता को प्रातिभासिक सत्ता ही मानी गई है । क्योंकि जगत् की अपनी कोई सत्ता नहीं है, वह हमारे मन की ही कल्पना है । हमारे दृष्टि तक सृष्टि है । दृष्टि नहीं तब वह सृष्टि भी नहीं । इस दृश्यमान जगत् को देखने वाला द्रष्टा भी एक है । दृश्य रूप में प्रतीत होने वाले जीव अस्तित्त्व हीन तथा कल्पित है । ये भी प्रतीति मात्र जीवाभास हैं, जीव नहीं । इनकी कल्पना भी एक द्रष्टा ही करता है, और इन्हें देखता रहता है । इस एक द्रष्टा को सिद्ध करने के लिये वे स्वप्न का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । जैसे एक स्वप्न द्रष्टा ही स्वप्न में जड़-जड़, जड़-जीव, जीव-जीव, जड़-ईश्वर, जीव-ईश्वर का भेद खड़ाकर लेता है । उनमें किसी को कर्ता, किसी को फल भोक्ता, किसी को मित्र, किसी को शत्रु, किसी को सदाचारी, किसी को दुराचारी, किसी को बन्ध, किसी को मुक्त तथा कोई-कोई भोगते, भागते हुए, शांत-अशांत, सुखी-दुःखी प्रतीत होते रहते हैं । इनमें जो सबका द्रष्टा है वह तो एक आत्मा है तथा जो दृश्य है, उनमें सभी जीवाभास है । जीवात्मा तो एक सबका द्रष्टा ही सत्य है । जिसके द्वारा स्वप्न रचा गया, देखा गया, जाना गया है ।

इसी प्रकार आत्मा द्रष्टा एक है और दृश्य उसका विवर्त मात्र है । इन्हीं दोनों को विवेक दृष्टि से देखकर दृश्य का बाध कर देना ही इस वाद का उद्देश्य है । इस मतानुसार अनेक द्रष्टा मानने में आपत्ति है । यदि अनेक द्रष्टा मान लिये जाते तो सम्पूर्ण दृश्य का बाध हो एक द्रष्टा आत्मा का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि एक द्रष्टा के दृश्य का बाध हो जाने पर भी अनेक द्रष्टा के

दृश्यों का बाध नहीं होगा । उसके लिये दृश्य का सद्भाव बना ही रहेगा ।

अब प्रश्न उठता है कि द्रष्टा एक कैसे है ? तो समझिए जिसे हम देखते हैं वह हमारी दृष्टि में दृश्य है । एवं उसकी दृष्टि में हम दृश्य हैं । इस प्रकार हम भी दृश्य एवं देखने वाला भी दृश्य तो द्रष्टा कहाँ है ? "**हम**" और "**वह**" इन दोनों जीव आभासों को जो देखता है, वही दोनों में स्थित एक सम ब्रह्म आत्मा है । स्वप्न द्रष्टा की भांति वह ही एक द्रष्टा है । अब देखिये "**हम**" और "**वह**" इन दोनों में द्रष्टा का जो विचार है, वह भी दृश्य कोटि में आ जाता है । क्योंकि विचार जो होता है, वह मन से ही होता है और मन तो दृश्य मात्र ही है । इस प्रकार "**हम**" और "**वह**" और "**इनका विचार**" जो मन बुद्धि का विषय बन जाता है आत्मा की दृष्टि में यह दृश्य ही है । आत्मा ही सबका एक द्रष्टा है ।

"एकोद्रष्टासि सर्वस्य मुक्त प्रायो सि सर्वदा ।
अमेयहिते बन्धः द्रष्टार पश्यसी तरम ।।"

अष्टावक्र गीता

सबका एक द्रष्टा तू है और सर्वदा ही तू मुक्त है । यही तेरा बन्ध है कि तू अपने अलावा अन्य को द्रष्टा के रूप में देखता है । इस अज्ञान के अलावा अन्य तेरा किसी प्रकार बन्धन नहीं है ।

प्रश्न-३ : संत तो समताभाव वाले होने चाहिये, फिर वे दूसरे संतों की निंदा करते क्यों पाये जाते हैं ?

उत्तर : जब तक स्वयं ज्ञानी न हो जाओगे तब तक यह रहस्य नहीं जान पाओगे । ज्ञानी द्वारा किसी की निंदा करुणा का ही रूप है । लेकिन अज्ञानी जब निंदा में होते हैं, तो वे अन्य के प्रति घृणा, वैर, कठोरता लिये होते हैं । अस्तु ! भूल यही है कि अज्ञानी ज्ञानी की स्थिति को अपनी ही स्थिति से तौलने लग जाते हैं । तुम्हें ऐसा लगता है कि हम अज्ञानी, किसी

की आलोचना करें तो कोई बात नहीं; परन्तु संतों को तो किसी संत, पंथ की आलोचना नहीं करना चाहिये । लेकिन मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या कोई ऐसा संत हुआ है, जिसने जिज्ञासु के कल्याणार्थ असत् की आलोचना न की हो एवं सद्गुरु बना हो ? बल्कि जिन्होंने आलोचना नहीं की वे सद्गुरु तो दूर रहे गुरु कहलाने योग्य भी नहीं है । वे राजनैतिक नेता, पुरोहित, पंडित रहे होंगे । राजनैतिक नेता हिसाब से चलता है । वह वही कहता है, जो तुम सुनना चाहते हो, सुविधा चाहते हो । क्योंकि तुम्हें वह अपने पीछे चलाकर सिट प्राप्त करना चाहता है । उसे सत्य से कोई प्रयोजन नहीं, आपकी सुख-सुविधाओं से भी कोई प्रयोजन नहीं है । उसे तो तुम पर अधिकार करने का प्रयोजन है । इसलिये राजनेता समन्वय की बात कहेगा, किन्तु सद्गुरु परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय नहीं करेगा । वह जो कहेगा वह अकाट्य होगा एवं अन्य सभी गलत को गलत सिद्ध कर देगा । उसकी बातों को आप काट नहीं पावेंगे ।

महात्मा गांन्धी का ही उदाहरण ले लें । उन्होंने अपनी प्रार्थना, पूजा, मन्दिर में पुराण, कुरान, गीता, बाईबिल ग्रन्थ साहब, आत्म सिद्धि, राम, कृष्ण, महावीर, जीसस सबको समान स्थान दिया व नारे लगाये और लगवाये कि **"ईश्वर अल्लाह तेरे नाम"** सबको ठीक कहते चले । जब प्राण निकले तब हे राम ! कहते हुए निले तब खुदा अल्लाह नहीं कहा । राजनेताको न कृष्ण से मतलब, न महावीर से, न मोहम्मद से, न जीसू से । मतलब है तो सिर्फ मोहम्मद के, महावीर के, राम के, कृष्ण के, जीसू के मानने वाले लोगों से । सब मेरे पीछे चले यह महत् आकांक्षा है । अगर कृष्ण की आलोचना करे तो हिन्दु नाराज, मोहम्मद की आलोचना करें तो मुसलमान नाराज, अगर महावीर की आलोचना करें तो जैन नाराज हो जाता है । राजनेता को तो इन सबको अपने अनुकूल कर राजी रखना है । इन सबको अपने पीछे चलाये रखना है । ये सब किसी तरह अनुयायी बने रहें ।

राजनेता मस्जिद में ईद के दिन, मोहर्रम् के दिन जुलुस में, सभा में शामिल हो जावेंगे । इधर पर्युशन के समय जैन सभा में भी सभापति पद को ग्रहण कर लेंगे एवं वहाँ जैन धर्म की प्रशंसा में बोल आवेंगे । मुसलमानों की सभा में कुछ पढ़ रट कर मोहम्मद एवं उसके इस्लाम धर्म पर प्रकाश डाल आवेंगे । इन को तो सबकी प्रशंसा करनी है । फिर चाहे महावीर, मोहम्मद, की बातों में बिलकुल भी तालमेल क्यों न बैठता हो, इससे इन्हें क्या लेना-देना, उन्हें तो जनता जनार्दन का बहुमत चाहिये ।

महावीर कहते हैं किसी की शरण में मत जाना, तभी आत्म सम्मुख हो सकोगे । किसी की शरण में गये तो अपने आप से वंचित् रह जाओगे जो परम सत्य है । स्वयं को जान लेना ही सत्य को जानना है । कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सब प्रकार का अहंकार छोड़ आत्म ज्ञानी गुरु की शरण में चले जाओ । कृष्ण ने समर्पण से जाना, तो उन्होंने जैसा किया है वह वैसा कहेंगे । महावीर ने सत्य को बिना किसी की शरण में गये पाया, तो वे वैसी बात अनुभव आधार से ओरों को भी कहेंगे । तो जिसने जिस प्रकार के साधन मार्ग से पाया है वह उसी को कहेगा । अब इसका परिणाम यह होता है कि जिनको कृष्ण के वचनों में विश्वास है वह कृष्ण के मार्ग पर चल पड़ेंगे । जिन्हें महावीरादि की बात पर विश्वास है, वे उस मार्ग से चल पड़ेंगे । अगर दोनों को ठीक कह देते हैं तो यह जीवों की भलाई न कर उनके मार्ग में दिवार खड़ी कर देंगे ।

यदि संत समन्वयाचार्य पद पर विभुषित हो सबको ठीक बतावें, तब आप किसे श्रेष्ठ जानकर चुनेंगे ? आप फिर उस संत द्वारा धर्म के चौरास्ते पर खड़े कर दिये जावेंगे । तब आप चौरास्ते पर खड़े सोचेंगे कि जब चारों रास्ते बराबर है, सही है, तब किस मार्ग से चलुं कि सरलता से निष्कंटकता से शीघ्र यात्रा पूर्ण हो सके ? लोग डाँवाडोल खड़े सोचते ही रह जायेंगे । महावीर को चुने या कृष्ण को ? भेद से चले या अभेद से ? निराकार से चले

या साकार से ? स्वर्ग चलें या वैकुंठ ? शिव पुराण पढ़ें या विष्णु पुराण ? गीता पढ़े या रामायण ? क्योंकि सभी सत्य है, सभी में सत्य है तो किसको उठाये किसको पढ़े ? आप बस यह सोचते, विचारते, पकड़ते, छोड़ते ही रह जावेंगे व तैली के बैल की तरह जहाँ के तहाँ ही पड़े नजर आवेंगे ।

१८ पुराण रचियता वेदव्यासने प्रत्येक पुराण में अन्य देवता को कार्य एवं उस पुराण के देवता को कारण रूप से वर्णन किया है । परन्तु यह निन्दा सत्य की ही महिमा कहलावेगी । तुम पर दया करके संत एक को सही तथा शेष को गलत कहते हैं, ताकि तुम्हारी उस एक में निष्ठा होगी तो तेजी से चल पड़ोगे एवं नहीं होगी तो उस गुरु को छोड़ आगे बढ़ जाओगे । वहीं खड़े रह समय नष्ट नहीं करोगे । इन दोनों प्रकार के लोगों को सच्चे संतों से किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती; क्योंकि वे सद्‌गुरु दोनों प्रकार के लोगों को आगे की ओर चला देते हैं, मार्ग में ढकेल देते हैं । खतरा तो ऐसे समन्वयाचारी सन्त से है, जो सबको ठीक कहते चले जाते हैं । उनके अनुयायी किसी मार्ग पर भी दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ नहीं हो सकेंगे, आरूढ़ पतित मध्य में झूलते, भटकते, चढ़ते, उतरते ही रहेंगे ।

यदि मुझे आपको उन्नति के मार्ग पर तेजी से चलाना है तो कहना होगा कि तीन रास्ते बिलकुल गलत है । भटक जाओगे, भूलकर उधर न जाना । यदि जाना है तो बस यही एक मार्ग है । ''नान्यः पंथा'' तब आप सोचेंगे कि जब अन्य मार्ग ही नहीं तो उधर जाना ही क्यों ? तो सुनने वाला चल पड़ेगा । फिर आगा-पीछा नहीं सोचेगा । जाऊँ या न जाऊँ ? इधर से जाऊँ या उधर से ? ऐसे नहीं विचारेगा । वह तो निश्चित मन से उस सद्‌गुरु से प्रेरित मार्ग पर चल पड़ेगा । फिर लौटकर उन तीन मार्गों का विचार भी नहीं करेगा । न उन पर चलने की इच्छा ही करेगा, कि देखतो लूं हिमालय के पार क्या है ?

पृथ्वी पर ३६५ धर्म है, यदि तुम उनमें समन्वय जुटाते रहोगे

ईश्वर-अल्लाह, सीता-शान्ति, ज्ञान-राम, लक्ष्मण-वैराग्य अहंकार-रावण एक है । तो फिर तुम कभी चल ही नहीं सकोगे चौरास्ते पर ही खड़े-खड़े सर्दो-गर्मी-वर्षा, चोर-डाकू, भूख-प्यास से पीड़ित हो मरते, धक्के खाते ही रहोगे । फिर तो लक्ष्यहीन को कोई भी आकर अपने साथ धक्का दे घसीट ले जावेगा । तथा आपको लूट कर रास्ते में डाल जावेगा । तुम रोते चिल्लाते फिर चौरास्ते पर जा खड़े हो जाओगे फिर कोई धक्का दे जावेगा । इस प्रकार तुम कभी भी अपनी मंजिल पर नहीं पहुँच सकोगे ।

संत राजनेता नहीं है । गांन्धी राजनेता है तुम्हें भी उसकी बात जचती है कि सबको एक कर रहा है, कोई भेद नहीं करता है । यदि ऐसा था तो विदेशी लोगों को फिर क्यों देश छोड़ने को मजबूर कर दिया ? मरते क्षण में राम ही कहा अल्लाह तो नहीं कहा ?

संत के द्वारा अन्य की निंदा, निंदा के लिये नहीं होती किसी सिद्धान्त का खंड़न के लिये नहीं, किन्तु जीवों पर करूणा के लिये एवं सत्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ही होता है । संत का वक्तव्य बिलकुल साफ होना चाहिये जिससे श्रोता को उसमें सन्देह को सुई की नोक भर स्थान नहीं होना चाहिये । तुम इस उलझन में मत पड़ो कि संत निंदा क्यों करते हैं ? तुम देखो कबीर, दयानंद, जीसस, सुखरात, मन्सूर, शंकराचार्य ने सबकी निंदा की है । तुम्हें किसी संत की निंदा स्तुति से क्या लेना-देना पड़ा ? तुम्हें जिसकी बात ठीक लगे, तुम उस ओर चल पड़ो ।

सब संत एक मंजिल पर पहुँचाने की बात बताते हैं । मंजिल पर पहुँचने के मार्ग साधन भिन्न-भिन्न हैं । जैसे अपनी सामर्थ्यानुसार कोई पैदल, कोई घुड़सवारी, कोई बैलगाड़ी, कोई रेलगाड़ी, कोई जल जहाज, कोई वायु जहाज से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं ।

इसी प्रकार परमार्थ में भी समझ लें । अष्टावक्र; कबीर, दयानन्द ने तो एक सत्य को छोड़ अन्य सबकी आलोचना की है । अष्टावक्र ने तो पूजा,

जप, तप, ध्यान, समाधि, स्वर्ग, मोक्ष, सन्यास, ब्रह्मचर्यादि सभी की निंदा की है । संत तुलसी ने भी ''मोह निशा सब सोवन हारे'' 'रामायण' इस प्रकार एक को छोड़ शेष सभी को काट दिया है । लेकिन ऐसा केवल किया है तो जिज्ञासुओं के प्रति करुणा के कारण किया है । जिज्ञासु तो पहले से ही उलझा खड़ा है । जब तक किसी जिज्ञासु को कोई आकर यह न कह दे कि यह रास्ता ही नहीं है वह वहाँ से आगे बढ़ ही नहीं सकेगा, वहीं खड़ा रहेगा । मानता रहेगा मैं पापी हूँ, परमात्मा की कृपा होगी तब होगा, मैं अधिकारी नहीं हूँ, अभी प्रारब्ध में नहीं है, नहीं तो अभी तक मिल जाता । बस तुम्हें जिस संत की बातों में श्रद्धा एवं रस जग जावे, उसी ओर चल पड़ो ।

एक बात याद रखना कुवाँ खोदते समय बहुत से पानी के स्त्रोत फूट पड़ते हैं, किन्तु धीरे-धीरे मिट्टी के कारण वे अवरुद्ध हो जाते हैं । कोई एक खुला रह जाता है । जैसे रोज-रोज चलनी से चाय, रस छानते हो उसके अधिकांश छिद्र बन्द हो जाते हैं । इस कारण जल्दीसे रस, पानी, चाय उनसे नहीं छन पाते हैं । आप परमात्मा को पाने हेतु ऐसे ही छिद्र के सम्मुख ''क्यु'' लाईन लगाये खड़े हैं जो छिद्र द्वार सदियों से बंद पड़ा है । जिसमें से परमात्मा को प्रवेश होकर निकलना अब मुश्किल है । तब आपको उस द्वार से हटाने हेतु संत को उसकी भरसक निंदा, आलोचना आपके सम्मुख करना ही पड़ेगी । तथा जो द्वार, झरोखा, मार्ग, छिद्र नया बनाया है, उसमें से प्रवेश कराने हेतु अन्य की आलोचना करना बिल्कुल जरूरी हो जाता है । क्योंकि लोग रुके खड़े हैं । सदियों पुराने बंद टूटे द्वार पर खटखटा रहे हैं । जहाँ उनकी पुकार को सुनने वाला कोई भी नहीं है किन्तु खड़े हैं, पूजा की सामग्री लिये द्वार खुलने की आशा में । पुरानी आदत के कारण खड़े हैं; क्योंकि उनके पिता भी वहीं मरते समय तक खड़े रहे थे । उनके पिता के पिता भी उसी आसन, मूर्ति के सम्मुख नतमस्तक होते चले आये हैं । तो पोते के पोते भी वही दोहराते रहते हैं । यदि बेटा बाप से पूछ ले पिताजी ! जिनको आप पूजा उनको आपने देखा है तो कहदेगा नहीं हमोर बाप कहते थे

उन्होंने देखा होगा साचते हैं शायद हमारी आँख में खराबी होगी । हमारे पिता को तो दिखाई पड़ता था तभी तो वे यहाँ बैठते, पूजते, छूते, सूंघते, बोलते, प्रार्थना करते थे । साधक सोचते हैं हम चरित्र को सुधारेंगे, नीति बदलेंगे, तभी प्रभु होगी कृपा, ऐसा सोच सदा केलिये बंद द्वार पर कई पागल खड़े दस्तक दे रहे हैं ।

जब गलत जगह से हटाना होता है तो उस स्थान, पथ की कड़ी आलोचना करना ही होगी । तब अन्ध श्रद्धालु मताग्रही लोग विरोधी अवश्य होंगे । पंडित, पुरोहित, धर्म गुरु नाराज होंगे । सत्य की यह कसौटी समझना कि जब सभी मिलकर किसी एक सत्याग्रही की निंदा, विरोध कर रहे हों । क्योंकि उसके होने से सभी यह सोच डरते हैं, कि इसके होने से हमारी दुकानें समाप्त हो जावेगी, लोग छोड़ जावेंगे । हमे सद्गुरु न पहिचान दंभी गुरु जान लेंगे । तो तुम इसको सत्य की कसौटी जानना । जब पुरानी सभी दुकानों के मालिक किसी एक नई सस्ती अच्छे सामान बिक्री करने वाली दुकान की निंदा करें तो ख्याल रखना, उस आदमी में कुछ सचाई होगी, नहीं तो इतने लोग विराध नहीं करते । और भी तो गाँव में बाबा, साधु, संन्यासी, उपदेशक, कथावाचक आते हैं उनकी कोई निंदा नहीं करते बल्कि हजारों रुपयों की थैली भेंट करते हैं ।

शिष्य निर्णय कैसे करे कि कौन सद्गुरु है, यह कैसे होगा ? शिष्य का मतलब है समर्पण, जिसके प्रति श्रद्धा जाग गई अब ऐसा व्यक्ति जिसने अपना हृदय गुरु को दे दिया अब उसके लिये गुरु की किसी प्रकार की भी निंदा होने पर भी शंका नहीं होगी । जैसे पार्वती को नारद द्वारा शंकर की निंदा सुनने पर भी श्रद्धा नहीं हटी ।

आपके गुरु की निंदा आपके सम्मुख हो, आपको कोई आपके गुरु की कुछ झूठी बात कह दे एवं आप उस पर क्रोध करने लगे, श्रद्धा डगमगाने लगे, तब यही समझना कि, हमने हृदय पूर्वक सद्गुरु के प्रति निष्ठा नहीं

जगायी थी । तुम्हें डर लगता है, निंदा सुनते समय की कहीं मेरा मन हट न जावे गुरु से, उस कमजोरी को छिपाने के लिये तुम निंदक पर क्रोध प्रकट करते हो ताकि वह हमारे गुरु के प्रति ज्यादा आगे न बोले अन्यथा जो बची-खुची टटपूंजी श्रद्धा है वह भी डह जावेगी । यदि ठीक से समर्पण हो गया है तो तुम मौन हुए सुन लोगे ।

''सद्गुरु का अर्थ है जिसके पास जाकर तुम्हें अपनी भूली स्वरूप स्मृति जागृत हो जाय, मोह नष्ट हो जाय ।''

यदि बुद्धि से शिष्य बने हो तो टूटोगे गुरु से । कोई थोड़ीसी बात को लेकर कोई भी आलोचना तुम्हें अलग कर देगी । यदि हृदय से जुड़े हो तो कड़ी से कड़ी आलोचना भी अलग नहीं कर सकेगी ।

असली प्रश्न तो मंजिल पर पहुँचना है । किस साधन, वाहन से पहुँचना है यह गौण बात है । आपकी श्रद्धा सामर्थ्य अनुसार चुनाव कर आरूढ़ हो जाइये । लेकिन तुम तो स्वयं संशयवान् हो, अपने गुरु के प्रति पहले से ही, फिर कोई दूसरा व्यक्ति भी थोड़ी आलोचना कर दे तो तुम, चारों खाने चित्त । किसी ने तुम्हारे गुरु के प्रति जो खिलाफ बात कर दी तो तुम्हें भी जंचने लगती है । अब तो तुम्हारे सन्देह की पुष्टि हो गई कि बात तो ठीक ही कहता है अब तुम घबड़ाये और तुम्हारी श्रद्धा की जड़ उखड़ने लगी ।

याद रखो ! बहुतों को सुनकर, समझकर मेरे पास आये हो तो ही ठीक चले आये हो । यहाँ से अब आगे नहीं जाना पड़ेगा । अगर सीधे मेरे पास चले आये हो, तो ठीक नहीं हुआ । मेरी आलोचना नहीं सुनी, एवं मेरे पास आ गये तो ठीक नहीं; क्योंकि वे आलोचक जब कभी मिलेंगे, तुम्हारी श्रद्धा को दूर करादेंगे । तो फिर इतने दिन मेरे पास बैठ जो ज्ञान लिया वह भी बेकार हो जावेगा । फिर मेरे पास बने रहने से लाभ नहीं होगा । या फिर कोई कुछ भी कहे तुम्हारी श्रद्धा वक्ता पर अडिग रहे तभी पूर्ण लाभ उठा सकते हो

। सद्गुरु साधन, मार्ग थोड़े ही देता है, अगर ठीक से समझो तो तुम्हारे वह अपने आत्मा का विश्वास पैदा करा देता है । जीवके सच्चे स्वरूप का स्मरण करादेता है ।

सद्गुरु के समर्पण का इतना ही अर्थ है कि तुम्हारा जो नहीं है देहादि संघात् उसे छोड़ दो । और जो तुम हो उसे तुम जान लो, जिसे आजतक अन्य या दूर जाना था । सद्गुरु तुमसे वही छीन लेता है जो तुममें कभी नहीं था और बदले में वही दे देता है जो, तुमसे कभी दूर नहीं हुआ था । इसलिये वेदान्त सत्संग द्वारा नित्य प्राप्त की प्राप्ति तथा नित्य निवृत्त की ही निवृत्ति होती है अर्थात् भ्रान्ति की ही निवृत्ति वेदान्त सत्संग एवं सद्गुरु के समर्पण का फल है ।

प्रश्न-४ : ब्रह्म मन, वाणी का अविषय क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : ब्रह्म सत् या असत् आदि सांकेतिक शब्दों द्वारा नहीं कहा जाता है । वक्ता द्वारा बोले जाने तथा श्रोता द्वारा सुने जाने वाले सभी शब्दों की गति का विषय जाति, क्रिया, गुण एवं सम्बन्ध को आश्रय कर ही होती है । इसके अलावा शब्द की गति नहीं होती है ।

समस्त दृश्य प्रपंच रूप संसार इन चारों विभागों के अन्तर्गत होने से इसमें ही शब्द की पहुँच होती है । ब्रह्म जाति, क्रिया, गुण तथा सम्बन्ध वाली सत्ता न होने से उसमें मन, वाणी की गति नहीं हो पाती है । जिस प्रकार वाणी द्वारा गौ, अश्व, मनुष्य ये शब्द जाति द्वारा संकेत कर अर्थ का बोध कराते हैं । ''पकाता है, खाता है'' ये शब्द क्रिया का आश्रय लेकर कहे जाते हैं । नीला, पिला, सफेद ये शब्द गुण का आश्रय लेकर बोले जाते हैं । तथा बंगले वाला, मोटर वाला, मील वाला, कारखाने वाला, ये शब्द सम्बन्ध द्वारा संकेत करवाकर अर्थ का बोध कराते हैं ।

किन्तु ब्रह्म क्रिया, गुण, जाति तथा सम्बन्ध से विलक्षण हैं, ऐसा

श्रुतियां प्रमाण करती है कि ब्रह्म जाति विशिष्ट (जाति वाला) नहीं है । क्योंकि श्रुति ब्रह्म को 'अगोत्रमवर्णम्', अर्थात् बिना गोत्र, बिना वर्ण वाला बताती है । "अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्", ब्रह्म, अशब्द, अस्पर्श, अरूप है । यह दृश्य भी नहीं है क्योंकि श्रुति ने उसे "अदृष्टम् व्यवहार्यम्", अदृष्ट, अव्यवहार्य कहा है । "एकमेवाद्वितीयम्", ब्रह्म एक और अद्वितीय है इस वाक्य से श्रुति ने ब्रह्म की जाति का निषेध किया है । "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्" ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, और शान्त है इससे क्रमशः ब्रह्म में गुण, क्रिया और सम्बन्ध का निषेध किया है । "असंगो ह्ययं पुरुषः", यह पुरुष असंग है । यह वाक्य भी ब्रह्म को सम्बन्ध, जाति, क्रिया, गुण रहित ही सिद्ध करता है । असंग, अद्वय, व्यापक होने से ।

इसलिए किसी भी शब्द द्वारा (वाणी द्वारा) ब्रह्म का वर्णन, कथन नहीं किया जा सकता है । साक्षात् रूप से कोई भी शब्द, ब्रह्म का वाचक नहीं है । अतः शब्द की प्रवृत्ति के हेतु जाति, गुण, क्रिया तथा सम्बन्ध का ब्रह्म में अभाव होने के कारण वह "अवाङमनसगोचर" है ।

प्रश्न-५ : श्रुतियों में आत्म ब्रह्म का स्वरूप कैसा बतलाया है ।

उत्तर : नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयत प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्तन्यमव्यपदेश्यम्एकात्म प्रत्यय सारं, प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।

अर्थात यह आत्म ब्रह्म स्वप्न दृश्य में अभिमान करने वाला तैजस रूप अन्तः प्रज्ञ नहीं है, न यह जाग्रतावस्था का अभिमान करने वाला विश्व रूप बहिः प्रज्ञ है, न यह दोनों ओर जानने वाला है । यह सुषुप्ति अभिमानी प्राग रूप प्रज्ञान घन भी नहीं है । अथवा समष्टि भाव से सर्वज्ञ (प्रज्ञं) ईश्वर भी नहीं है और यह अल्पज्ञ जीव (अप्रज्ञ) भी नहीं है याने अज्ञान रूप भी नहीं है ।

यह अदृष्ट=इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है । अव्यवहार्यम्=अर्थात् व्यवहार के योग्य नहीं है । अग्राह्यम्=इसे कर्मेन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है । अलक्ष्यम्=इसे अनुमान द्वारा लक्ष्य नहीं किया जा सकता है । अचिन्त्यम्=इसे मन के चिन्तन द्वारा विचार में नहीं लाया जा सकता है । अव्यपदेश्यम्=इसे शब्द द्वारा प्रकाश नहीं किया जा सकता है । तब यह कैसा है ? ''अवाङ् मनसागोचर'' ।

एकात्म प्रत्ययसार याने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में यह एक ही चैतन्य स्वरूप है । यह ही एकमात्र साक्षी, द्रष्टा है । इस प्रकार निश्चयात्मक प्रत्यय (वृत्ति) याने ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा ही यह ''मैं ब्रह्म हूँ'' रूप में ही सबको लभ्य है ।

''प्रपंचोपशम्'' याने जगत् रूप प्रपंच उपाधि से शून्य, ''शान्तम्'' याने राग-द्वेष रूपी द्वन्द्व से शून्य, शिवम् याने मंगल स्वरूप विशुद्ध, ''अद्वैतम'' याने सर्व प्रकार से द्वैत भाव रहित अर्थात् निर्विशेष शुद्ध चिन्मात्र, चतुर्थम्, याने स्थूल, सूक्ष्म कारण, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति विश्व, तैजस, प्राग से भिन्न चतुर्थ अकारण, तुरीय प्राग साक्षी कूटस्थात्मा रूप ब्रह्म है, वही आत्मा है, उसी को जानना चाहिये । जिससे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्था का प्रकाश हो रहा है वह ही स्वयं प्रकाश आत्मा है और वह तुम ही हो ''तत्त्वमसि'' ।

प्रश्न-६ : समाधि अवस्था में सुषुप्ति अवस्था से क्या विशेषता है ?

उत्तर : सुषुप्ति तो सिद्ध ज्ञानी-अज्ञानी, पापी-पुण्यात्मा सभी को नित्य प्राप्त होती रहती है । समाधि पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध होती है । सुषुप्ति अवस्था में जो जीव ब्रह्म एकत्व आनन्द प्रकट होता है । समाधि में भी उतना ही आनन्द प्रकट होता है । सुषुप्ति में भी जगत् का अभाव होने से जगत् का अज्ञान होता है । समाधि में भी जगत् की प्रतीति नहीं रहती है । सुषुप्ति में स्वरूप का विशेष रूप से अज्ञान रहता है, तो समाधि में भी अपने आत्म स्वरूप का

विशेष रूप से अज्ञान रहता है । सामान्य ज्ञान दोनों अवस्थाओं में समान रहता है, याने साक्षी रूप से दोनों में विद्यमान रहता है । याने ''मैं सच्चिदानन्द निर्विकल्प आत्मा हूँ'' ऐसा वृत्ति ज्ञान सुषुप्ति तथा समाधि में भी नहीं रहता है, द्वैत अभाव होने से । यदि समाधि में सुख का विशेष रूप से ज्ञान मानोगे तो वह ब्रह्मानन्द न कहलाकर विषयानन्द कहा जावेगा । तथा सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द न मानोगे तो फिर विषयानन्द मानना पड़ेगा जो सबके अनुभव के विरूद्ध है; क्योंकि वहाँ विषयजन्य आनन्द प्राप्त नहीं होता है । अन्तःकरण एवं विषय दोनों का ही लय हुआ रहता है । यदि लय न मानेंगे तो फिर स्वप्न तथा सुषुप्ति में कुछ भेद ही प्रतीत नहीं होगा । फिर तीन अवस्था नहीं कही जाती अपितु केवल जाग्रत एवं स्वप्न दो ही नाम होते । अतः सुषुप्ति एवं समाधि दोनों में ब्रह्मानन्द ही है । फिर अन्तर क्या है ?

सुषुप्ति अवस्था में प्रवेश तथा उससे उत्थान जीव का बिना जाने हो जाता है । उसे पता ही नहीं चलता है कि कब सुषुप्ति में हो जाता है । किन्तु समाधि प्रयत्न से सिद्ध होने से इसमें प्रवेश तथा उत्थान ज्ञान सहित होता है । दूसरी बात सुषुप्ति अवस्था एवं समाधि अवस्था में समान आनन्दानुभव होने पर भी समाधि में ज्ञान सहित प्रवेश होने से कृतकृत्यता साधक को प्रतीत होती है । सुषुप्ति वाले पुरुष को वही समाधि जन्य आनन्द प्राप्त होने पर भी वैसी ही कृतकृत्यता का अनुभव नहीं होता है, जैसा कि समाधि से जागने वाले स्थित प्रज्ञ को होता है । मैं धन्य हो गया और अब मुझे ब्रह्मानन्द पाना शेष नहीं रहा । अब मैं तृप्त हो गया हूँ, जो करना था वह कर लिया, जो पाना था वह पा लिया, अब न कुछ करना है, न कुछ पाना ही शेष है । सुषुप्ति से जाग्रत पुरुष यह नहीं जानता है कि जो आनन्द आया था यही ब्रह्मानन्द है ।

वास्तविकता तो यह है कि सुषुप्त पुरुष को समाधिस्थ पुरुष से कम आनन्द नहीं होता दोनों का समान ही रहता है, क्योंकि दोनों को अन्तःकरण का अभाव होता है इसलिए कम ज्यादा सुख की अनुभूति माप किसी को

नहीं हो पाता है ।

इस प्रकार सुषुप्त पुरुष एवं समाधिस्थ पुरुष दोनों ही स्वरूप में स्थित हो जाते हैं । परन्तु इतने मात्र से कोई जीव मुक्त नहीं होता । वैसे आत्मा सदैव स्वरूप में ही स्थित है । अस्तु नित्य प्राप्त मुक्ति की अनुभूति तो केवल ज्ञान द्वारा ही होती है । मुक्ति तो न समाधि द्वारा होगी न सुषुप्ति द्वारा, न किसी अन्य साधन द्वारा ही हो सकती है । ''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है । और ज्ञान रूप औषध की जरूरत तभी होती है जब अज्ञान रूप रोग का अनुभव हो जाता है ।

समाधि में तथा सुषुप्ति में इतना ही भेद है कि जैसे किसी व्यक्ति को बाँम्बे का सोहन हलवा खाने की इच्छा हो और उसे कोई लाकर दे, कि यह लो सोहन हलवा तो उस पुरुष को खाते समय प्रसन्नता रहेगी एवं तृप्ति का भी अनुभव करेगा तथा उसे उसका सदा स्मरण भी रहेगा । किन्तु दूसरे व्यक्ति को सोहन हलवे का परिचय कराये बिना खाने को दे दिया तो उसे आनन्द तो उतना ही खाने पर मिलेगा परन्तु उसे सोहन हलवा खाने की तृप्ति नहीं होगी याने वासना बनी रहेगी, एवं सोहन हलवे का अज्ञान भी बना ही रहेगा ।

प्रश्न-७ : स्वप्न की तरह जगत् को अनहुआ कैसे कहते हैं?

उत्तर : जाग्रत भी स्वप्न की तरह अल्पकाल के लिये होने से दोनों की समानता ही है । जैसे स्वप्नकाल में स्वप्न बहुत काल वाला प्रतीत होता है,किन्तु जाग्रत में आने पर वह क्षणिक मालूम पड़ता है । उसी प्रकार जाग्रत अपने काल में तो स्वप्न पुरुष के अनुभव की तरह चिरकाल स्थाई ही प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञान दशा में यह भी क्षणिक ही भासता है ।

यदि कहें कि स्वप्न रोज-रोज नया होता है और जाग्रत एक ही चलता रहता है । तो भाई ! यह भेद तो तुम जाग्रत में आकर कर रहे हो कि स्वप्न रोज-रोज नया होता है किन्तु स्वप्नकाल में स्वप्न जगत् भी जाग्रतवत्

स्थायी एवं सत्य ही भासित होता है । उसमें सन्देह तक उदय नहीं होता है, कि आज मैं यह नये स्वप्न के मिथ्या मकान, पुरुष, स्थान, वन, पशु,भोग आदि देख रहा हूँ । बल्कि जाग्रतवत् ही वह वहाँ भी सब कुछ स्थायी ठाटबाट ही देखता है ।

यदि कहें कि स्वप्न से जागकर हमें स्वप्न की याद रहती है, किन्तु जाग्रत से स्वप्न में जाने पर जाग्रत की याद नहीं रहताी है । भाई ! जैसा अभी तुम कहते हो कि हम स्वप्न में जावेंगे, तब जाग्रत की याद नहीं रहेगी । किन्तु स्वप्नकाल में भी तुम्हें क्या यही ख्याल रहता है कि हम जाग्रत में जावेंगे तो यह स्वप्न की हमें स्मृति बनी रहेगी ? नहीं, उस अवस्था में भी तुम जाग्रतवत् ही अनुभव करते हो ।

यदि कहें कि स्वप्न में तो जाग्रत के देखे सुने अनुभूत विषयों के संस्कार का ही भोग अनुभव होता है, और यह जाग्रत का भोग तो कर्म जन्य है । मानलो जैसे किसी ने अपनी मृत्यु स्वप्न में देखी, अपना सिर कटा देखा, अपने पुत्र, पति, पत्नी को मरा देखा, किन्तु जाग्रत में तो इस प्रकार का परिणाम मिलता नहीं है । फिर स्वप्न में ऐसी अघटित घटना क्यों दिखाई पड़ जाती है ? अतः जैसे अनहुए दृश्य, घटना स्वप्न में दिखती है, उसी प्रकार जाग्रत रूप स्वप्न जगत् भी अनहुआ ही दिखता है । याने पूर्व-पूर्व के जाग्रत् स्वप्न के संस्कार ही की मिथ्या स्मृति होती रहती है और तुम समझते हो कि हमें पूर्व के अनुभूत की स्मृति हो रही है । इसीलिए जैसे स्वप्न की सब पूर्व की स्मृति भ्रम मात्र है उसी प्रकार जाग्रत में पूर्व स्वप्नादि की स्मृति भ्रम मात्र है । दोनों अवस्था में कुछ भी फर्क नहीं है ।

जाग्रत के कारण पूर्व शुभाशुभ कर्म तुम को उसी प्रकार भासते हैं जैसे स्वप्न सृष्टि में धनी, रोगी, दरिद्र के पूर्व कृत शुभ और अशुभ कर्मों की मिथ्या कल्पना तुम करते हो । स्वप्न में किसी राजा को देखकर तो ऐसा विचारते हो कि इस राजा का पूर्व जन्म का कोई महान् पुण्य है कोई विशेष

दान, यज्ञ अनुष्ठान किया है, तभी यह वर्तमान में राजा हुआ है । एवं स्वप्न में ही किसी भयंकर रोग से ग्रस्त रोगी को देखने पर यह विचार होता है कि इसका अवश्य कोई पूर्व कृत दुष्कर्म का ही फल है । अब विचारो स्वप्न के जीव क्या सत्य है ? जब जीव ही सत्य नहीं तो उनके पूर्व जन्म एवं वहाँ किये शुभाशुभ कर्म के सत्य होने की तो कल्पना भी कैसे कर सकते हैं ? और जाग्रत होने पर हम खुद ही कह देते हैं कि अरे ! वह तो स्वप्न की झूठी घटना थी । ब्रध्या पुत्र ही नहीं, तो उसकी पत्नी कहाँ ? उसके कर्म भोग कहाँ ? केवल एक स्वप्न द्रष्टा ही सबका रूप धारण कर आप ही उसे देखता रहता है ।

असत् जगत् का कारण न ईश्वर है, न कर्म है, न पुण्य है, न पाप है, बल्कि अज्ञान् ही है । जिसके कारण अनहुआ स्वप्न रूप जगत् भासित हो रहा है ज्ञान होने पर केवल आत्म सत्ता के अलावा कुछ भी सिद्ध नहीं होता है ।

प्रश्न-८ : एक अखंड़ ज्ञान सीतावर कहने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : सीता याने माया का स्वामी ज्ञान ही ब्रह्म है । ज्ञान ही सर्व व्यापक, नित्य, सर्वात्मा है । ज्ञान का खण्ड किसी भी देश, काल वस्तु द्वारा नहीं हो सकता है । बल्कि समस्त भाव-अभाव देश, काल, वस्तु का प्रकाशक ही ब्रह्म (ज्ञान) है । ज्ञान को छोड़ सभी वस्तुएँ परिच्छिन्न, सीमित, अल्प हैं । ज्ञान द्वारा ही सबका माप होता है, किन्तु ''ज्ञान मान जहँ एकउ नाही'' ज्ञान में कोई प्रमाण नहीं है, ज्ञान ही सबका प्रमाण है । इसीलिये ज्ञान को अप्रमेय कहा है याने इन्द्रियों से ज्ञान ब्रह्म इन्द्रिय विषयों की तरह ग्रहण नहीं हो सकता है । बल्कि ज्ञान से ही समस्त विषयों का अनुभव होता है । ज्ञान का अनुभव किसी के द्वारा नहीं होता है; क्योंकि ज्ञान स्वयं अनुभव स्वरूप है । मन, वाणी ज्ञान को नहीं माप सकती ''मति न लखे जिहि मति लखे, सो मैं ज्ञान स्वरूप'' ज्ञान द्वारा ही मन, बुद्धि को जाना जाता है ।

"विज्ञातारम रे केन विजानीयात" ।

ज्ञान के द्वारा सभी का खंडन या मंडन होता है, किन्तु ज्ञान स्वयं प्रकाश है, उसका खंडन किसी के द्वारा नहीं हो सकता है । यदि ज्ञान का खंडन भी माना जावे तो वह खंडन करने वाला ज्ञान ही विशेष होगा, और इस प्रकार अज्ञान को नष्ट करके शुद्ध ज्ञान ही शेष रहेगा । जैसा कि सुषुप्ति में प्रतिदिन सबको खाकर पचाकर केवल ज्ञान मात्र ही सत्ता रूप से शेष रहता है । यही ज्ञान प्रलय में भी अखंड अचल, कूटस्थ, निर्विकार, साक्षी ही बना रहता है । सुषुप्ति में देह से लेकर ब्रह्मलोक तक समस्त प्रपंच का अभाव रूप होना ही ज्ञानी के लिये नित्य प्रलयावस्था है । तब ज्ञान ब्रह्म ही उन समस्त जीवों के उनके पूर्व सृष्टि के कर्म संस्कारों के सहित अपने महोदर में छिपा रखते हैं । तथा जीवों के कर्म परिपक्व हो जाने पर उन्हें पुनः भोगने हेतु जाग्रत कर बाहर निकाल देते हैं जिसे सृष्टि या जाग्रतावस्था कहते हैं । याने यह ज्ञान एक अखंड़ ही जाग्रत, स्वप्न, तथा सुषुप्ति इन तीनों रूपों में विवर्तित होता है ।

अवस्था चाहे जितनी हो, दृश्य भले मिथ्या या असत्य हो,किन्तु उन्हें देखने वाला, जानने वाला ज्ञान अखंड एवं सत्य है, वह झूठा नहीं हो सकता है । क्योंकि विषय ज्ञान का आश्रय, जानने का आश्रय,देखने का आश्रय, मैं स्वयं सत्यात्मा ही हूँ । स्वप्न के हाथी, ऊँट, शेर, भगवान, मित्र-शत्रु, सब झूठे हैं । जाग्रत में सीप में चांदी, ठूंठ में चोर, आकाश में नीलिमा, मरूस्थल में जल, रस्सी में सर्प, आत्मा में जगत्-ईश्वर-जीव यह सब अध्यस्त है; सब झूठे हैं । किन्तु हमारा जानना, देखना, उन्हें प्रकाशित करना झूठा (असत्य) नहीं है । ज्ञान का विषय यथार्थ या अयथार्थ हो सकता है, किन्तु हमारा जानना स्वयं अयथार्थ (झूठा) नहीं हो सकता है ।

विषय दूर निकट हो सकता है परन्तु ज्ञान निकट-दूर दोनों में समान है । वह इन दोनों को जानता है । जहाँ तक इन्द्रियाँ देख पाती है, उसे भी

जानता है, और इन्द्रियाँ नहीं जान पाती है, उसे भी जानता है । ज्ञान प्रकाश को तो प्रकाशित करता ही है, किन्तु अंधकार को भी ज्ञान ही प्रकाशित करता है । ज्ञान कभी दूर-निकट नहीं होता क्योंकि वही सर्वत्र विद्यमान है । विषय कल का, आज का और कभी का हो सकता है, किन्तु ज्ञान सदा वर्तमान ही रहता है । ज्ञान कभी बासी, पुराना, पिछला नहीं होता, बल्कि भूत, भविष्य कुछ नहीं है केवल वर्तमान ही है । इसी प्रकार ज्ञान सदा वर्तमान में ही होता है, वर्तमान का भान भी ज्ञान द्वारा ही होता है ।

विषय घट-पट-मठ स्त्री-पुरुष स्थान काल अलग-अलग होते हैं, परन्तु इनका प्रकाशक ज्ञान एक अखंड ही है । अन्धकार-प्रकाश अलग है, परन्तु इनका प्रकाशक ज्ञान एक है । समाधि-विक्षेप, धर्म-अर्धम, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष, भिन्न-भिन्न है, परन्तु उनका प्रकाशक (जानने वाला) ज्ञान एक ही है । श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न है ? परन्तु उनका पक्राशक ज्ञान एक ही है । पाँच इन्द्रियों में ज्ञान पाँच विषय रूपों में नहीं बटता । उपाधि के धर्म ज्ञान में भेद उत्पन्न नहीं कर सकते । ज्ञानेन्द्रि पाँच होने से उनके विषय भी पाँच है, किन्तु शब्द ज्ञान, स्पर्श ज्ञान, रूप ज्ञान, रस ज्ञान, गंध ज्ञान इस प्रकार ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान पाँच ज्ञान नहीं है । जैसे नदी का जल, कूएँ का जल, सरोवर का जल, घड़े का जल, ग्लास का जल, यह सब जल, जल, जल, जल, जल पाँच जल नहीं है, बल्कि एक ही जल है । इसी प्रकार इन्द्रिय भेद होने पर भी ज्ञान एक ही है ।

विषयगत धर्म विषय के प्रकाशक पर कभी आरोपित नहीं हो सकते हैं । सामने वाले दृश्य में बुराई होने पर भी द्रष्टा में आरोपित नहीं हो सकती । जैसे सूरदास को मार्ग बताने वाला, देखने वाला, जानने वाला व्यक्ति स्वयं सूरदास नहीं कहा जा सकता है । देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण, जगत्, सब दृश्य सामने है, किन्तु इनके धर्म द्रष्टा ज्ञानात्मा को स्पर्श नहीं कर सकते

हैं । आत्मा, ब्रह्म, ज्ञान सब धर्मों से अप्रभावित साक्षी ही बना रहता है ।

जब ज्ञान को आप अन्तःकरण, इन्द्रिय, प्राण, देह, जगत्, विषय के धर्मों से मिलाते हैं, तभी जड़ का चेतन एवं चेतन को जड़ समझने की भूल धारणा आप कर बैठते हैं ।

उपरोक्त ज्ञान की अखंड़ता, प्रकाशकता, निर्विकारता, असंगता, साक्षीत्व, द्रष्टत्व, नित्यता के कारण ही इस ज्ञान को ब्रह्म स्वरूप जाना गया है । याने ज्ञान ही ब्रह्म है । ''सत्यं ज्ञानं अनन्त ब्रह्म'' ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान गम्यं'' गीता १३/९७ ज्ञान ही ब्रह्म है ।

प्रश्न-९ : वेदान्त समझने की कौन सी प्रक्रिया है ?

उत्तर : वेदान्त समझने की अनेक प्रक्रियाएँ हैं । आभासवाद्, प्रतिबिम्बवाद्, अवच्छेदवाद्, दृष्टि-सृष्टिवाद् आदि । किन्तु सरल-सुगम प्रक्रिया बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद् है । फिर जिसको जिस प्रक्रिया द्वारा स्वरूप बोध हो सके उसके पक्ष में वही श्रेष्ठ है ।

प्रतिबिम्बवाद में एक ही चैतन्य अविद्या के द्वारा बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब रूप से दो प्रतीत होता है । बिम्ब ईश्वर और प्रतिबिम्ब जीव है । जब हम दर्पण में देखते हैं तो हमारे दो मुख बन जाते हैं । एक तो दर्पण द्वारा दिखने वाला और एक हमारे ही गर्दन पर स्थित मुख । ग्रीवा वाला मुख बिम्ब तथा दर्पण वाला प्रतिबिम्ब कहलाता है । विचार करके देखा जावे तो दर्पण हटा देने से मुख में बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों उपाधि जन्य नाम कल्पित है । जब प्रतिबिम्ब ही नहीं दिखाई पड़ता है तब ग्रीवा मुख को बिम्ब नाम भी नहीं कहा जा सकता है । बिम्ब की संज्ञा प्रतिबिम्ब की अपेक्षा से हुई थी ।

इसी प्रकार एक अखंड व्यापक स्वप्रकाश, आत्म चैतन्य में दर्पण के समान अविद्या-माया के कारण जीव-ईश्वर भाव का आरोप हो जाता है । प्रतिबिम्ब बिम्ब के अलावा कुछ भी पृथक् सत्ता वाला नहीं है, और बिम्ब

भी मुख के अलावा कुछ नहीं है । अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान में प्रतीत होने वाला प्रतिबिम्ब जीव, ईश्वर ब्रह्म से भिन्न नहीं है । जैसे घट मठ उपाधि से रहित आकाश अखंड ही है ।

यथा यथा भवेत् पुंसः व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चान वस्थिता ॥

जिस-जिस प्रक्रिया से प्रत्यगात्मा का स्वरूप समझ में आ जाय वही प्रक्रिया साध्वी (श्रेष्ठ) है किन्तु प्रक्रिया कोई भी सत्य नहीं है ।

प्रश्न-१० : वासना का समूल नाश और चित्त अमनीभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर : विषयों के चिन्तन का नाम ही चित्त या मन है । चित्त के विषय रहित हो जाने पर वही चित्त स्वरूप हो जाता है, याने आत्म स्वरूप रह जाता है । समस्या यह है कि चित्त को विषयों से कैसे पृथक् किया जाय ? यद्यपि सुषुप्ति, मूर्छा तथा समाधि में विषयों का अभाव रहता है, किन्तु वह अभाव आत्यन्तिक (पूर्ण रूप से) नहीं है । सुषुप्ति समाधि, मूर्छा से हटते ही पुनः पूर्ववत् संसार ज्यों का त्यों दिखलाई पड़ने लगता है ।

चित्त को विषयों से सदा के लिए मुक्त करने का उपाय है, विषयों के मिथ्यात्व का दृढ़ निश्चय । जैसे स्वप्न जगत् से जाग्रत होने पर स्वप्न मिथ्या प्रतीत होता है । उसी प्रकार जाग्रत प्रपंच भी विचारकाल में स्वप्नवत् ही प्रतीत होने लगता है । तब सहज ही विषयों के प्रति सत्यत्व एवं सुखत्व बुद्धि नष्ट हो जाती है ।

मन का आत्म स्फूरण ही अमनीभाव या मनोनाश कहलाता है । मन का पाषाणवत् जड़ हो जाना, मनोनाश या अमनीभाव नहीं कहलाता है । आत्म स्वरूप के बोध से ही मुक्ति होती है, चित्त को जड़ बनाने से मुक्ति नहीं होती । यदि चित्त को संकल्प शून्य बनाने से ही मुक्ति होती तो सभी

सुषुप्त, मूर्छित, बेहोश, समाधिस्त पुरुष तथा ईंट, पत्थर, धातु आदि मुक्त माने जाते । क्योंकि उनमें किसी प्रकार का स्फूरण ही नहीं होता है । अस्तु वासना का समूल नाश प्राणायाम, समाधि द्वारा नहीं, बल्कि आत्मज्ञान द्वारा ही हो सकता है ।

सब अवस्था के साक्षी को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अखंड, अनन्त, अपरिच्छिन्न, निर्विकल्प, चैतन्य, आत्म ब्रह्म जान लेना ही आत्म साक्षात्कार है । आत्मा कभी भी अप्राप्त नहीं है, और न वह कभी अज्ञात ही है । सबके भाव-अभाव का साक्षी आत्मा ही ब्रह्म है । जिस प्रकार कोई भी प्रतिबिम्ब दर्पण के बिना नहीं होता है, उसी प्रकार आत्म के बिना कोई भी संकल्प, वृत्ति, पदार्थ विषय दर्शन भी नहीं होता है । आत्म दर्शन पूर्वक ही अनात्म विषय दर्शन होता है । जिस प्रकार अलंकारों में बुद्धि अटक जाने से अधिष्ठान स्वर्ण का साक्षात्कार होते हुए भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो पाता है । उसी प्रकार नाम, रूप में दृष्टि अटक जाने से उसके अधिष्ठान अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म का अनुभव नहीं हो पाता है ।

याद रखे ! आत्मा कभी भी दृश्य रूप से अनुभव में आने वाला या प्रत्यक्ष रूप से दिखने वाला पदार्थ नहीं है, बल्कि वह तो सबका द्रष्टा ही है । द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता है । इस निर्विकल्प शुद्ध, चित्त स्वरूप आत्म ब्रह्म का जाग्रत और स्वप्न, स्वप्न और सुषुप्ति, सुषुप्ति और जाग्रत इस प्रकार दो वृत्तियों की संधि में अनुभव होता है । अतः महावाक्य का उपदेश सद्गुरु द्वारा ग्रहण कर तत् एवं त्वं पदार्थों का भली प्रकार से शोधन करना चाहिये । शुद्ध ''अहम्'' ही कूटस्थ आत्म ब्रह्म है । इसी प्रकार के विचार द्वारा अपने अज्ञान का नाश किया जा सकता है ।

प्रश्न-११ : चित्त वृत्तियों को शान्त कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर : जो इन्द्रियों के द्वारा विषयों का अनुभव किया जाता है, वही वृत्ति है । इन्द्रियों के सम्मुख विषय न हो तो वृत्ति नहीं रहती । विषयों के

भान होने से पृथक् वृत्ति कुछ नहीं । इस प्रकार बाह्य इन्द्रियों एवं अन्तःकरण से भान होने वाले सभी विषय अनुभव वृत्ति स्वरूप है । तथा इस वृत्ति का जो साक्षी है वह ब्रह्म है और ''वह मैं हूँ'' ऐसा बोध ही वृत्ति यों की शान्त अवस्था है । मैं ब्रह्म का अनुभव करूँ ऐसा विचार भी वृत्ति है । ब्रह्म में वृत्ति को लगाने का विचार करना ही अज्ञान है ।

जब हम किसी वस्तु को भली प्रकार निश्चय कर लेते हैं तब हमें उस वस्तु आकार वाली वृत्ति बनाने की जरूरत नहीं रहती । जैसे दो और दो मिलकर चार होते हैं, जब यह एक बार जान लिया तब उसके जानने के लिये किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती । यदि फिर भी प्रयत्न किया जाय तो समझना चाहिये कि उस तथ्य का अभी हमें पूरा ज्ञान नहीं हुआ । क्योंकि भली प्रकार जानी वस्तु के लिये पुनः जानने हेतु प्रयत्न नहीं करना पड़ता । उसी प्रकार ब्रह्म का अर्थ है ज्ञान स्वरूप अब ज्ञान का अर्थ ही जानना है, तो फिर जानने को जानना क्या होगा ?

दूसरी बात यह है कि वृत्ति स्वयं दृश्य कोटि में है, और जो दृश्य है, वह अनित्य है । तब अनित्य वृत्ति, नित्य वस्तु आत्मा के जानने में कैसे उपयोगी हो सकती है ? इस प्रकार इस मिथ्या वृत्ति से ब्रह्म को जानने की चेष्टा ही ब्रह्म को न जानने जैसा है यही ब्रह्म का अज्ञान है । जो कहता है कि मैं ब्रह्म को जान गया उसने समझो ब्रह्म को जाना ही नहीं है । ब्रह्म वृत्ति का विषय नहीं बल्कि प्रकाशक है ।

जो वृत्ति है, वही चित्त है । अर्थात् वृत्ति है, तो चित्त है, वृत्ति नहीं तो चित्त भी नहीं एवं वृत्ति प्रायः चंचल ही होती है । अतः चित्त है तो वह स्वभावतः चंचल ही होगा, चित्त में सदा स्पन्दन-स्फूरण होता ही रहेगा । जब इस चंचल चित्त को शान्त रूप देखने का अभ्यास हो जाय, तब समझना चाहिये कि हमारी ''बोध'' में निष्ठा हुई है । तब इस चंचल चित्त को कैसे निश्चिन्त शांत किया जा सकता है यह चिन्ता ही समाप्त हो जाएगा

? जैसे स्थिर चन्द्रमाँ बादलों के संयोग से भागता हुआ-सा प्रतीत होने पर भी हमारे बोध में यह बात दृढ़ रहती है, कि चन्द्रमाँ बादलों के साथ नहीं भाग रहा है । इसी प्रकार हमको दृढ़ बोध हो जावे कि चित्त को चंचलता से अधिष्ठान ब्रह्म में स्पन्दन नहीं होता है । यह निष्ठा ही आत्म बोध का प्रमाण है । आत्मा नित्य शान्त स्वरूप है । चित्त के स्पन्दन से मैं चंचल नहीं होता ऐसा जिन्हें स्वरूप के प्रति दृढ़, निष्ठा नहीं है उन्हीं मुमुक्षुओं के लिये अभ्यास बताया जाता है कि वे वेदान्त का मनन, निदिध्यासन करें ।

चुप बैठ जाने का नाम चित्त की शान्त दशा नहीं मानी जाती है; क्योंकि वाणी मौन करने से भी अन्तर में चिन्तन तो चलता ही रहता है । चित्त को शान्त कर पत्थर के समान निर्विकल्प दशा में ले जाना भी मोक्ष का हेतु नहीं है, किन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध ही मोक्ष का हेतु है । अर्थात् मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ इस प्रकार की निष्ठा हो जाना ही मोक्ष है ।

ग्रहण, अग्रहण व अन्यथा ग्रहण ये तीन ही वृत्ति होती है । ब्रह्म का ग्रहण तो हो नहीं सकता क्योंकि इसे अप्रमेय, ‘‘अग्राह्यम्’’ कहा है । इसलिए आत्म ब्रह्म का ग्रहण या अन्यथा ग्रहण नहीं हो सकता है । जाग्रत में इन्द्रियां ग्रहण करती है । अग्रहण सुषुप्ति निद्रा है । अन्यथा ग्रहण स्वप्न है । किन्तु ब्रह्म अनिन्द्रा, अस्वप्न है बल्कि ग्रहण अग्रहण तथा अन्यथा ग्रहण का प्रकाशक स्वयं प्रकाश स्वयं सिद्ध नित्य प्राप्त वस्तु है ।

चित्त जितनी बार सविकल्प दशा में जाता है उतनी बार निर्विकल्प दशा में भी होता है । प्रत्येक संकल्प के पहले तथा बाद में जो सन्धि है, वही निर्विकल्पावस्था है । यदि निर्विकल्पता ही मोक्ष कारण होती तो पत्थरों की भी मुक्ति हो जानी चाहिये थी । जब तक बीज रूप से वासना बनी रहती है, तब तक कोई भी साधन करते रहें मुक्ति नहीं हो सकती । वासना का नाश वृत्ति के द्वारा ही हो सकता है । बिना वासना को जाने उसका त्याग नहीं हो सकता । वासना का मूल अज्ञान है । अज्ञान को नष्ट कर देने पर वासनाओं

की प्रतीति होती रहे तब भी वे बन्धन रूप नहीं होती ।

विचारवान् की दृष्टि में सविकल्प, निर्विकल्प, द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय, ध्याता-ध्येय, प्रमाता-प्रमेय, कर्ता-कर्म एक ही सत्ता है । अर्थात् सब दृश्य कोटि में है । अथवा अन्तःकरण की ही वृत्तियाँ है, चाहे वह आत्माकार हो या अनात्माकार । ज्ञानी वह नहीं जो सतोगुणी वृत्ति को बनाये रखने की इच्छा करे एवं रजोगुणी या तमोगुणी वृत्तियों से अप्रसन्न हो उन्हें हटाने की इच्छा करे, बल्कि ज्ञानी वह है जो दोनों वृत्तियों का साक्षी सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने को जाने । यही चित्त की शान्त दशा है । सुषुप्ति की तरह ध्यान, समाधि कर लेना निर्विकल्पता नहीं है । ऐसी अवस्था तो पत्थर को प्राप्त है । किन्तु बिना स्वरूप बोध के जीव का मोक्ष अन्य साधन से नहीं होता है । देश-काल-वस्तु इन तीनों उपाधियों के अन्तर्गत वृत्ति है, इन्हें छोड़कर वृत्ति नहीं हो सकती । अतः आत्मा को देश, काल, वस्तु एवं वृत्ति उपाधियों से रहित जानना ही आत्मानुभव है । वृत्तियों का उपयोग चित्त एकाग्रता में प्रथम है । तत्त्व बोध के बिना केवल चित्त शान्त हो जाने से मोक्ष नहीं है ।

प्रश्न-१२ : सर्वज्ञता किसे कहते हैं ?

उत्तर : भूत-भविष्य तथा वर्तमान की बातों को जान लेना जीवों की दृष्टि में सर्वज्ञता है किन्तु वास्तविक सर्वज्ञता तो देश-काल व वस्तु के स्वरूप को जान लेना है । वस्तुतः ये तीनों ही तो दृश्य के प्रकार हैं । ये सभी बनते-बिगड़ते रहते हैं । भूत, वर्तमान, भविष्य, देश-काल, वस्तु ये प्रपंच के अन्तर्गत होने से मिथ्या है, इनमें सत्यत्व एवं स्थायित्व नहीं है । ऐसा जानना ही सर्वज्ञता है ।

हम देखते हैं, कि भूत तथा भविष्य की तो उपलब्धि ही नहीं होती है, क्योंकि भूत की तो स्मृति मात्र है एवं भविष्यत् की आशा मात्र है । वर्तमान भी सोचने के क्षण के अलावा ढूंढ़ने को नहीं मिलता है । घड़ी की प्रत्येक सेकंड जो भविष्य में थी वे वर्तमान होते ही भूतकालिन हो जाती है ।

काल गतिशील है । वर्तमान को पकड़ने की कोशिश करते ही उसी समय वर्तमान की सूई बिन्दु हमारे हाथ से निकलकर भूत में चली जाती है । वर्तमान को पकड़ने का एक ही तरीका है कि भूत की चिन्ता छोड़ दो-भविष्य के गर्भ में छिपे वर्तमान में आने वाले बिन्दु की कल्पना छोड़ दो तब देखो वर्तमान क्या है ? भूत तथा भविष्य की जो सन्धि काल है वही वर्तमान है । इसी प्रकार देश, काल, वस्तु, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की या दो संकल्प के सन्धि काल को जो जानता है वही सर्वज्ञता है । शेष सभी जानकारी अल्पज्ञता ही है, दृश्य नाशवान् ही है । ऐसा अपने को जानना ही वास्तविक सर्वज्ञता है । किसी के मन की बात, छिपा धन जान लेना सर्वज्ञता नहीं है, वह तो सिद्धि कहलाती है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति यही जीव का सर्व है इन तीनों को जानने वाला मैं ही सर्वज्ञ हूँ ।

प्रश्न-१३ : तादात्म्य अध्यास किसे कहते हैं, कृपया विस्तार पूर्वक समझाने की कृपा करें ?

उत्तर : सभी जीवों की एकमात्र चाह समस्त दुःखों से छुटकारा एवं परमानन्द की प्राप्ति है । इसी चाह को शास्त्र भाषा में मोक्ष कहते हैं । मोक्ष की प्राप्ति बिना ब्रह्म ज्ञान के नहीं होती है । वेद कहता है-"ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" "तरति शोकमात्मवित्" अर्थात् आत्म ज्ञानी (आत्म निष्ठावान्) शोक रूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है । इस बन्धन की निवृत्ति एकमात्र ज्ञान से ही होती है । और यह ज्ञान ब्रह्मात्मैक्य बोध के जागरण को कहते हैं ।

उपरोक्त वेद वचन "ज्ञान द्वारा ही मुक्ति" तभी सार्थक हो सकते हैं, जब बन्धन मिथ्या हो । यदि बन्धन कर्म कृत होगा तो उस बन्धन से मुक्ति ज्ञान मात्र से नहीं होगी । उसके लिये कर्म ही कर्तव्य होगा, किन्तु जब बन्धन अज्ञान कृत गधे नं, २० की तरह पड़ा हो तो, वहाँ मुक्ति भी ज्ञान मात्र से हो सकेगी । जैसा कि कहा है "जड़ चेतन ग्रन्थि परि गई, यद्यपि मृषा

छूटत कठिनाई ।'' यदि ग्रन्थि सत्य होती तो ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा का साधन न बताते किन्तु ''यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई'' कहा है याने झूठी गांठ बना रहे हैं फिर भी अज्ञानी लोग ज्ञान से खोलने के बजाय कर्म, भक्ति, योग से खोलने में लग जाते हैं । तो वह बिना लगी गांठ और मजबूत हो जाती है ।

यदि बन्धन सत्य होता तो ज्ञान मात्र से उसकी निवृत्ति कभी नहीं होती और फिर ''ज्ञान मोक्ष प्रद वेद बखाना'' ''ज्ञान देव तु कैवल्यम्'' आदि वैदिक सिद्धान्तों का शास्त्रों में उल्लेख भी नहीं मिलता ।

ब्रह्म सूत्र में शंकराचार्यजी कहते हैं-यद्यपि अन्धकार और प्रकाश का आपस में एकत्व नहीं हो सकता; क्योंकि उन दोनों का स्वभाव परस्पर विरूद्ध है । इसी प्रकार अनात्मा और आत्मा, दृश्य और द्रष्टा, साक्ष्य और साक्षी, विषय और विषयी का भी परस्पर अध्यास (अन्योन्य अध्यास) का होना असम्भव प्रतीत होता है ।

जब आत्मा का अनात्मा में और अनात्मा का आत्मा में अध्यास हो, तभी इनके धर्मों का भी एक दूसरे में अध्यास (भ्रान्ति) होना सम्भव होगा । आत्मा-अनात्मा तो प्रकाश-अन्धकार की तरह विरुद्ध स्वभाव वाले हैं । जब उनका परस्पर अध्यास ही नहीं हो सकता है, तब उनके धर्मों का परस्पर अध्यास कैसे हो सकेगा ? अर्थात् असम्भव है । सत्, चेतन, आनन्द तथा अद्वैत आत्मा के धर्म का असत, जड़, दुःख तथा द्वैत अनात्मा के धर्मों के साथ उसी प्रकार का विरोध है जैसे उष्णता व शीतलता का है । अर्थात् जड़ में चेतन का धर्म और चेतन में जड़ का धर्म कभी सम्भव नहीं हो सकता है । महान आश्चर्य है कि अनहुआ ब्रध्या पुत्र सेना लेकर मारने आ गया तो उसके बचाव के लिये आपको भी खरगोश के सींग का तीर बना, इन्द्र धनुष पर चढ़ा, चन्दन के फूलों की विजय माला पहन, गन्ने के फल खाकर, मरूस्थल का पानी पीकर अमावस्या के प्रकाश में गन्धर्व नगर के मैदान में

जा मोर्चा लेना ही पड़ेगा । जोकि यह सब कथन असत्य है इसी प्रकार बन्धन भी असत्य है ।

आत्मा-अनात्मा का अलग-अलग स्वरूप न समझने से ही दोनों धर्मियों का एक दूसरे में अध्यास होता है । जैसे मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि हूँ अथवा मैं यह साढ़े तीन हाथ का शरीर हूँ । यह आत्मा में अनात्मा का अध्यास है । क्योंकि ''मैं हूँ'' यह तो आत्मा की सत्ता है, किन्तु इस आत्म सत्ता का सत पना देह अनात्मा में आरोपित कर दिया कि ''मैं प्रभुदयाल हूँ ।'' अज्ञानी अनात्म देह के षट् विकारी धर्मों को अपने में, आत्मा में आरोपित कर मैं जन्मा, मैं बालक, मैं युवा, मैं वृद्धा, मैं मर जाऊँगा आदि भ्रम करता है । यह आत्मा में अनात्मा का अध्यास है (भ्रम है) असत शरीर में सतबुद्धि है, जड़ बुद्धि में चेतन बुद्धि होना ही अनात्मा में आत्मा का अध्यास है ।

मुख्य रूप से अध्यास दो प्रकार के कहे जाते हैं । एक स्वरूपाध्यास दूसरा संसर्गाध्यास । किसी भी अध्यास के लिये वस्तु का सामान्य ज्ञान एवं विशेष रूप का अज्ञान होना जरूरी है । यदि किसी वस्तु का सामान्य ज्ञान ही न हो अथवा विशेष ज्ञान हो तो भ्रम नहीं हो सकता है । जैसे रज्जू में सर्प के अध्यास के समय यदि वहाँ पूर्ण अन्धकार हो तो ''यह क्या है'' ऐसी सामान्य प्रतीति भी नहीं होगी तो फिर सर्पादिक का भ्रम भी किसके सहारे खड़ा होगा ? बिना अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान हुए अध्यस्त भ्रम नहीं हो पाता है । यदि वहाँ पूर्ण प्रकाश ही हो तो फिर वहाँ भ्रम भी नहीं हो सकेगा । रस्सी होगी तो रस्सी या लकड़ी होगी तो लकड़ी या सर्प होगा तो सर्प प्रतीत हो जावेगा, किन्तु भ्रम नहीं होगा । तो समझने का विषय यह है कि भ्रम स्थल पर वस्तु के सामान्य अंश का बोध तथा विशेष अंश का अज्ञान रहना जरूरी है । अन्यथा भ्रम नहीं हो सकेगा । जैसे ''यह रस्सी है'' इसमें दो अंश है, एक सामान्य तथा दूसरा विशेष्य । ''यह'' सामान्य अंश है क्योंकि जगत् के

सभी पदार्थों के साथ ''यह'' शब्द का प्रयोग होता है । जैसे यह मकान, यह घड़ी, यह सर्प,यह रस्सी, यह टेबल, यह जगत्, मुक्ति आदि । इस प्रकार वस्तु का सामान्य अंश ''यह'' सर्व व्यापक है और स्वयं रस्सी विशेष्य अंश है । शब्द रस्सी रस्सी, के लिये ही प्रयोग की जाती है । सूत्र के लिये लकड़ी के लिये रस्सी शब्द का प्रयोग नहीं होता, इस कारण रस्सी विशेष्य है ।

अब देखना यह है कि रस्सी सर्प का परस्पर अध्यास कैसे होता है ? तो जब कुछ-कुछ प्रकाश और कुछ-कुछ अन्धकार का समय होता है, वहाँ प्रथम रज्जु के सामान्य अंश 'यह' का भान होता है कि न जाने क्या 'यह' लम्बा-लम्बा टेड़ा-मेड़ा-सा पड़ा है । इसी प्रकार रस्सी का सामान्य ज्ञान 'यह' रूप तो भासित हुआ किन्तु ऐसे समय में विशेष रूप ''रस्सी'' का बोध नहीं हो सका, कि ''यह रस्सी है ।'' इस रस्सी विशेष्य रूप का अज्ञान ही सर्प अध्यास का कारण है । यदि प्रकाश में रस्सी विशेष रूप का ज्ञान हो जाता तो फिर सर्प भ्रम ही नहीं होता ।

यदि घने अन्धकार के कारण रस्सी के सामान्य 'यह' अंश का बोध न होता तो फिर यह क्या पड़ा है ऐसी प्रतीति भी नहीं होती । तब भ्रम ही किसके सहारे खड़ा होता ? बिना वस्तु के सामान्य ज्ञान के बोध एवं विशेष रूप के अबोधावस्था हुए कभी भ्रम नहीं होता है ।

अस्तु ! सिद्धान्त ज्ञात हुआ कि वस्तु के विशेष रूप के अज्ञान से अध्यास होता है । इस अज्ञान की दो शक्ति है एक आवरण तथा दूसरी विक्षेप शक्ति । आवरण शक्ति से रस्सी का विशेष्य अंश ढका होता है । दूसरी विक्षेप शक्ति से रस्सी के बदले सर्प दिखाई देने लगता है । तात्पर्य यह कि 'यह' इस सामान्य अंश के साथ रस्सी विशेष्य अंश की प्रतीति होनी चाहिये थी कि ''यह रस्सी है'' किन्तु इसके स्थान पर ''यह सर्प है'' ऐसी गलत, मिथ्या प्रतीति होने लग जाती है ।

इसी प्रकार आत्मा के सामान्य रूप ''मैं हूँ'' का सत्ता रूप से ज्ञान तो सभी को होता रहता है किन्तु अज्ञान की आवरण शक्ति से आत्मा के चिदानन्द मुक्त अद्वैत, व्यापक विशेष रूप का आच्छादन सद्गुरु शरणागति के पूर्व सभी को होता है । विक्षेप शक्ति से रस्सी की जगह सर्प की तरह, आत्मा के स्थान पर जीव एवं जगत् की भासमानता (प्रतीति) होने लगती है । जैसे भ्रान्ति स्थल पर सर्प रूप में प्रतीत होने वाली लम्बाई या मोटाई रस्सी की ही होती है वह सर्प की अपनी नहीं है । वैसे भ्रान्ति स्थल पर जीव है, जगत् है की 'है' रूप में प्रतीत होने वाली सत्ता जगत् या जीव की नहीं है, बल्कि आत्म ब्रह्म की ही है । सर्प भ्रम के समय रस्सी में सर्प, सर्प की पूंछ, मुखाकृति प्रतीत होती है, उस समय भी रस्सी में अन्य कुछ भी नहीं होता है । वैसे ही जिस समय अधिष्ठान आत्म ब्रह्म में जीव, जगत्, कर्ता-भोक्ता, जन्म-मरण, सुख-दुःख भ्रान्ति से प्रतीत होता है उस समय भी अधिष्ठान ब्रह्म में कोई एक धर्म भी नहीं होता है । जिस प्रकार विषधर सर्प की प्रतीति होने पर भी रस्सी विषैली नहीं होती है । जलधारा की प्रतीति होने पर भी रस्सी भागती नहीं है । लकड़ी की प्रतीति होने पर भी रस्सी कठोरता धारण नहीं करती । उसी प्रकार आत्मा में सुख-दुःख, शोक-मोह, भूख-प्यास, जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष की प्रतीति होने पर भी आत्मा सुख-दुःख, शोक-मोह, भूख-प्यास, जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष धर्म वाला नहीं होता । सर्प दिखने पर भी रस्सी मिट सर्प नहीं हो जाती, उसी प्रकार जीव-जगत् दिखने पर भी आत्मा मिटकर जीव-जगत् रूप नहीं हो जाता है । जैसे एक ही काल में एक अधिष्ठान में रस्सी और सर्प दो नहीं हैं, उसी प्रकार अधिष्ठान एक आत्मा में जीव-जगत् ईश्वर यह द्वैत या त्रैत भी नहीं होता है । सर्प प्रतीत होने पर भी रस्सी, रस्सी ही है इसी प्रकार जीव-जगत् प्रतीत होने पर भी आत्मा ब्रह्म ही है । जगत् आत्म अधिष्ठान में स्वरूप से अध्यस्त होने से मिथ्या है तथा आत्मा अधिष्ठान होने से सत्य है । मिथ्या प्रतीति की सत्य अधिष्ठान में भ्रान्ति होने से अधिष्ठान वस्तु में लेश मात्र भी फर्क नहीं पड़ता

। जैसे सिनेमा के पर्दे पर रक्त, पानी, अग्नि, चाकु का खेल समाप्ति पर वास्तव में कोई भी प्रकार का प्रभाव पर्दे पर नहीं छोड़ पाते हैं ।

जिस समय रस्सी सर्प प्रतीति से पूर्व थी एवं जिस समय सर्प दिखता था उस समय भी वह रस्सी ज्यों की त्यों अपनी ही महिमा में स्थित रहती है । तथा अधिष्ठान रस्सी ज्ञान हो जाने पर भी वह रस्सी ही रहती है । सिद्धान्त यह है कि जिसकी सत्ता का तीनों कालों में, किसी प्रकार नाश या परिवर्तन न हो, उसे सत्य कहते हैं । यहाँ रस्सी व्यवहारिक सत्ता वाली होने से व्यवहारिक दृष्टि से सत्य कही जा सकती है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्म, जगत् सृष्टि से पहले भी था, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति के समय भी ज्यों का त्यों अखंड, निर्विकार, कूटस्थ रूप से अपनी अद्वितीय सत्ता में स्थित रहता है एवं सृष्टि प्रलय या मोक्षकाल में भी जीव-जगत् का अभाव हो जाने पर भी ब्रह्मात्मा उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार की सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व था । अतः तीनों कालों में विद्यमान रहने से ब्रह्म सत्य है एवं जीव-जगत् ईश्वर मिथ्या अध्यास मात्र है ।

सर्प प्रतीति से पूर्व रस्सी में नहीं था रस्सी ज्ञान हो जाने पर भी नहीं रहता किन्तु केवल भ्रम काल में ही रस्सी सर्पाकार में प्रतीत होती है । इस प्रकार रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प तीनों कालों में रस्सी की तरह समान रहने वाला नहीं होने से सत्य नहीं है । किन्तु रस्सी पर सर्प प्रतीति ब्रध्या पुत्रवत् असत् भी नहीं कही जा सकती है । क्योंकि भ्रमकाल में प्रतीत होता है । इसलिए रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प मिथ्या है ।

ब्रह्म में जगत् सृष्टि के पूर्व नहीं था, प्रलय काल में भी नहीं रहता अथवा मोक्ष हो जाने पर भी जीव-जगत् ईश्वर का भेद नहीं रहता है । अज्ञान काल में जो जीव, जगत् तथा ईश्वर भ्रम रहता है वह ब्रह्म ज्ञान से निवृत हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्म के समान तीन काल में यह जीव, जगत्, ईश्वर भ्रम नहीं रहने से सत्य नहीं हो सकता है । स्थिति काल में या अज्ञान

काल में प्रतीत होने के कारण जीव, जगत्, ईश्वर ब्रध्या के पुत्र की तरह असत्य भी नहीं है । किन्तु सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय याने मिथ्या ही है । वास्तव में तो पारमार्थिक दृष्टि से महापुरुषों, ज्ञानी संतों की दृष्टि में 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के अतिरिक्त यह जगत् ब्रध्या पुत्र के समान किसी काल में है ही नहीं ।

अज्ञानी को तो आकाश में नीलिमा सत्य रूप में प्रतीत होती है किन्तु तत्त्वदर्शी जानते हैं कि आकाश में नीलिमा जैसा कोई रंग नहीं है । फिर भी दिन में दूरी दोष से सभी को नीलिमा प्रतीत होती है । इसी प्रकार अज्ञानी को जो जगत् सत्य रूप में भासित होता है किन्तु आत्मदर्शी भली प्रकार जानते हैं कि ब्रह्म में जगत् नहीं है, केवल लेश अविद्या दोष से बाधितानुवृति द्वारा दिखता रहता है । जैसे हींग, कर्पूर, इत्र,केशर वस्तु समाप्त होन पर भी उसकी गंध उस पात्र में कुछ काल तक बनी रहती है । इसी प्रकार ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाने पर भी उसकी छाया रूप लेशऽविद्या देह प्रारब्ध पर्यन्त बनी रहने से संसार प्रपंच का असत् रूप से निश्यय हो जाने पर बाधितानुबृत्ति से प्रतीत होता रहता है । जैसे सीप में चाँदी, मरूस्थल में जल असत् निश्चय हो जाने पर भी विवेकी को दूर से चाँदी एवं जल की प्रतीति होती रहती है । बाधित हुए ज्ञान की पुनः अनुवृति होना ही बाधितानुवृति कहलाती है ।

यह नियम है कि अध्यस्त पदार्थ अपने आश्रय दाता अधिष्ठान के विशेष रूप को ढाँक देता है । सत्, चित, आनंद और अद्वैतपन ये आत्मा के चार स्वरूप भूत धर्म है तथा असत, जड़, दुःख तथा द्वैतपन ये चार धर्म अनात्मा के हैं । इनका परस्पर अध्यास होने के कारण स्वरूप से अध्यस्त अनात्मा के दुःख और द्वैत धर्म ने आत्मा के आनंद और अद्वैतपने को ढाँक लिया है । इसीलिये अज्ञान काल में मैं आनंद स्वरूप और अद्वैत ब्रह्मात्मा रूप से हूँ ऐसी प्रतीति नहीं होती है, किन्तु मैं दुःखी और ब्रह्म मुझसे भिन्न है,

ऐसी जीव को भ्रान्त प्रतीति होने से सदा दुःखी बना चौरासी लाख यानियों में भटकता कष्ट उठाता रहता है । यही आत्मा में अनात्मा का स्वरूप अध्यास हुआ । जो वस्तु स्वरूप से न हो एवं उसकी प्रतीति सत्तावान् पदार्थ में होती हो तो उसे स्वरूप अध्यास कहते हैं ।

इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप भूत सत् तथा चेतन धर्मों का अनात्मा के असत् तथा जड़ इन दो धर्मों में संसर्गाध्यास हो जाने के कारण देह असत् तथा बुद्धि जड़ प्रतीत नहीं होती किन्तु मैं नहीं मरूँगा-मैं ज्ञानी हूँ ऐसी मिथ्या भ्रान्ति होती है । याने देह असत् है तथा अन्तःकरण जड़ रूप है ऐसी प्रतीति नहीं होती है किन्तु देह "विद्यमान" है और बुद्धि चेतन है ऐसी भ्रान्त प्रतीति होती है । यह अनात्मा में आत्मा का संसर्गाध्यास है । जहाँ सत्तावान् पदार्थ के धर्मों का असत् मिथ्या पदार्थ में आरोपण किया जाता है उसे संसर्गाध्यास कहते हैं ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अत्यन्त भिन्न धर्म और अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाले धर्मियों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण एक दूसरे के स्वरूप का तथा एक दूसरे के धर्मों का परस्पर अध्यास होता है इसी अध्यास के कारण ही सत् आत्मा और असत् अनात्म देह का परस्पर बुद्धि में ग्रन्थि पड़ जाती है । श्री तुलसीदासजी के शब्दों में-

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई ।
जदपि मृषा छूटत कठिनई ।।

अर्थात् आत्मा अनात्मा के धर्मों का आपस में अध्यास हो जाने से देह व आत्मा का स्वरूप पृथक् एवं स्पष्ट बोध होना मुश्किल हो गया है । इसी कारण जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा दुःख भोगा करता है । और जब यह ग्रन्थि का किसी सद्गुरु की कृपा से नाश हो जाता है तब-

भिद्यते हृदय ग्रंथिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे ।।

मुंडकोपनिषद २/२/८

अर्थात् जब जीव कार्य-कारण स्वरूप परमब्रह्म परमात्मा को ''यह मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार जानलेता है, तब ''मैं देह हूँ'' यह अविद्याजन्य ग्रंथि (अध्यास) भ्रान्ति छूट जाती है । तथा यह शुभाशुभ समस्त संचित् कर्मों से मुक्त, निष्पाप हो जाता है । तब बुद्धि से समस्त भेद रूप भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती है और यह जीव परम तत्त्व परमात्मा को अभेद रूप से पा जाता है । अर्थात् 'सोऽहम्' ऐसी धारणा कर मुक्त हो जाता है ।

परस्पर के अध्यास को अन्योन्याध्यास कहते हैं जैसे लोहे के गोले को आग में डालने से वह आग के समान लाल हो जाता है । लोहार ने उसे सांडसी से पकड़ कर पृथ्वी पर डाला तो उसे देख बालक कहने लगा, पिताजी ! गोल-गोल आग भागती हुई घास को जला रही है । तब पिता ने कहा नहीं, आग गोल नहीं है, गोलाई तो लोहे की है । तब बालक ने कहा अच्छा मैं समझा कि लोहा जला रहा है । तब पिता ने कहा लोहा नहीं जलाता है आग जलाती है । एवं लोहे का गोला भागता है आग नहीं भागती है ।

अब यहाँ लोहे की गोलाई का अध्यास अग्नि में एवं अग्नि की दाहकता का अध्यास लोहे में हो रहा है । इसी प्रकार चिदाभास रूप अज्ञानी जीव को, आत्मा में अनात्मा देह का और अनात्मा में आत्मा का जो अध्यास होता है, उसे अन्योन्याध्यास कहते हैं । इसी ग्रन्थि के कारण अनात्म देह एवं अन्तःकरण के धर्म आत्मा में मानकर मैं दुःखी, मैं सुखी, मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं शान्त-मैं अशान्त, मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं बालक, मैं जवान, मैं बुढ़ा आदि समझता है । अज्ञानी अनात्मा को आत्मा मानकर मैं हूँ और चेतन हूँ ऐसा देह तथा बुद्धि को अपना होना मानता है, यही

अन्योन्याध्यास या परस्पर का अध्यास है ।

इसी प्रकार आत्मा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यपन एवं कर्ता-भोक्तापन की भ्रान्ति है । जो पूर्व-पूर्व जन्मों के भ्रान्तिजन्य संस्कारों से अगले जन्म में इसी प्रकार के देहाध्यास को पैदा करा जीव को चौरासी लाख योनियों में भटकाया करती है । जीव अनुकूल व प्रतिकूल पदार्थों में राग-द्वेष करके जन्म-मरण के चक्र में फंसता दुःख भोगा करता है । जब तक आत्मा का ब्रह्म स्वरूप करके बोध नहीं होगा, तब तक इस अध्यास(भ्रम) का अन्त नहीं हो सकता । कर्म कांड व उपासना कांड के अनुष्ठान से भी जीव का यह अनादि अध्यास नहीं छूट पाता है । कर्मानुष्ठान तथा भेदोपासना तो इस अध्यास को और अधिक दृढ़ीभूत करती चली जाती है । अध्यास की निवृत्ति बिना अधिष्ठान के विशेष ज्ञान हुए कभी नहीं होती है । जैसे अध्यस्त सर्प का भ्रम, बिना रस्सी के विशेष ज्ञान किए निवृत्त नहीं हो सकता । या बिना प्रकाश के जैसे अन्धकार किसी अन्य साधन से कभी नहीं जा पाता है ।

जब जीव, ईश्वर कृपा से एवं अपने सुकृत कर्मों के फलस्वरूप किसी दयालु श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जा अपने संशय का छेदन वेदान्त तत्त्व के बार-बार श्रवण-मनन व निदिध्यासन द्वारा कर लेता है । तब वह अपने आत्म स्वरूप का ब्रह्म रूप में दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार कर अपने को अखंड सत्, चित्, आनन्द व अद्वैत स्वरूप प्रत्यक्ष जान लेता है । फिर वह हर अवस्था में मस्त बना जीवन्मुक्त हुआ विचरण करता रहता है । ऐसा आत्मनिष्ठावान् प्रारब्ध समाप्त होने पर विदेह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

अज्ञान के कारण मुमुक्षु जिसे अन्य एवं भिन्न जान खोज करता हुआ दुःखी हो रहा था तथापि वेदान्त ज्ञान द्वारा उसे स्वयं रूप जान परमानन्द स्वरूप को पाकर कृतकृत्य हो जाता है । यह देहाध्यास की निवृत्ति ही जीव की मुक्ति हेतु प्रमुख एवं अन्तिम साधन है ।

प्रश्न-१४ : जीव तथा आत्मा में कौन सत्य तथा कौन मिथ्या है ?

उत्तर : जीव आत्मा का प्रतिबिम्ब होने से मिथ्या है एवं बिम्ब आत्मा सत्य है । जीव अध्यस्त है एवं आत्मा अधिष्ठान है । जब तक अधिष्ठान का बोध नहीं होता है तब तक अध्यस्त मिथ्या भी प्रतीत नहीं होता है । जैसे पुष्पों की माला में सूत्र सबको भीतर से बांधे हुए रहता है । उसी प्रकार बुद्धि (जीव) के विकल्पों में सामान्य चेतन-प्रकाश अनुस्यूत रहता है । पुष्पों से जैसे सूत्र ढका रहता है उसी तरह विकल्पों में चेतन-आत्मा छुपा रहता है । पुष्पों को दूर करने से दो पुष्पों के बीच सूत्र स्पष्ट रूप से भासित होता है । उसी प्रकार एक विचार शान्त होने व दूसरे के उदय होने के मध्य काल में चैतन्य की अनुभूति होती है । एक के पीछे एक पुष्प ठसाठस गुंथे होने से सूत्र दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु पुष्पों को आगे पीछे की ओर धकाने से बीच का सूत्र दिखाई पड़ता है । उसी प्रकार विकल्पों (वृत्तियों) का प्रवाह अविराम गति से उठते-बैठते रहने से आत्मानुभूति सामान्य रूप से नहीं होती है किन्तु उन विकल्पों को रोकने से दो विकल्पों के सन्धिकाल में निर्विकल्प चैतन्य का साक्षातकार हो जाता है । माला के पुष्प अनेक जाति, गुण, सुगन्ध, आकार, रूप, रस भेद वाले होने पर भी उनको धारण करने वाला सूत्र एक ही है । उसी प्रकार अनेकों जीवाभास विभिन्न गुण, स्वभाव, प्रकृति, कर्म, के होने पर भी उनको टिकाये रखने वाला ब्रह्मात्मा एक जैसा सब में अनुस्यूत है ।

विकल्प, बुद्धि, वृत्ति में से उत्पन्न होकर वे इन्द्रियों के द्वार से निकल कर अपने-अपने विषयों तक पहुँचते हैं । बुद्धि वृत्ति से विषय तक की यात्रा में वे चंचलता को प्राप्त करते हैं । तथा इच्छित विषय की प्राप्ति या अप्राप्ति पर थोड़ी देर में ही दूसरा विकल्प उठ जाता है, फिर दूसरा विकल्प समाप्त होते ही, तीसरा विकल्प उठ जाता है । इस प्रकार इनकी धारा एक के बाद एक लहर की तरह चलती रहती है । जैसे माला में एक फूल के पीछे

दूसरा, तीसरा, फूल सटा ही रहता है । उसी प्रकार विकल्पों का प्रवाह एक के बाद एक बना रहता है । बहुत पुष्प मिलकर सूत्र को छिपा लेते है । इसी प्रकार बहुत विकल्पों के कारण आत्मानुभूति नहीं हो पाती है । जैसे बादल के हटने से स्वच्छ आकाश, लहरों के शान्त होने से निर्मल जल देखने में आता है, उसी प्रकार दो विकल्पों के मध्य का स्थान खालीपन बढ़ाने से अर्थात् पूर्व विकल्प समाप्ति के बाद दूसरे विकल्प को उठने न दिया जाय एवं उसके सन्धिकाल को बढ़ाया जाय तो चैतन्य स्वरूप आत्मा स्पष्ट रूप से अनुभव में आने लगता है ।

अधिष्ठान आत्मा का बोध होने से अध्यस्त जीव की सत्यता की भ्रान्ति तत्काल दूर हो जाती है । जैसे प्रकाश होने पर रस्सी से सर्प की भ्रान्ति दूर होते ही रस्सी का निश्चय हो जाता है एवं अध्यस्त सर्प में से सत्यत्व बुद्धि तत्काल दूर हो जाती है । शुद्ध बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव कहते हैं एवं जिसका आभास पड़ता है, उस बिम्ब को मुख्यात्मा सत्यात्मा कहते हैं । जैसे सूर्य का अभास जल भरे पात्र में पड़ता है, वह मिथ्या है । किन्तु जिस आकाश स्थित सूर्य का यहाँ जलसे भरे घड़े में प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह बिम्ब सूर्य ही एकमात्र सत्य है । इसी प्रकार चैतन्यात्मा का अभास रूप नाना जीव असत् है तथा बिम्ब रूप एक आत्मा ही सत्य है ।

प्रश्न-१५ : विकल्पों का क्या स्वरूप है जिसके कारण सत्यात्मा की अनुभूति नहीं हो पाती है ?

उत्तर : जाग्रतावस्था में अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि से विकल्प उठते रहते हैं । एक विकल्प के लय होते ही दूसरे का उत्थान हो जाता है । दूसरे का लय होते ही, तीसरे का उत्थान कब हो जाता है उसका पता भी नहीं चल पाता है । उन्हें उठाने हेतु किसी प्रकार की चेष्टा ही नहीं करना पड़ती है । इस प्रकार एक वृत्ति लय होने व तत्काल दूसरी उदय हो जाने के कारण बीच की निर्विकल्पावस्था का पता नहीं चल पाता है । दो विकल्पों के मध्य अवकाश

हो तब तो चैतन्यात्मा की अनुभूति हो किन्तु उनका प्रवाह सागर की लहरों की तरह होता ही रहता है ।

अथवा रथ चक्र में अनेक आरे एवं साइकिल पहिये में अनेक स्पोक होने पर भी तीव्र गति से चलते समय उनके बिच का खाली स्थान ही दिखता है । पंखे की तीन-चार पंखड़ी के मध्य जो खाली स्थान होता है तीव्र गति के कारण पंखड़ियाँ प्रतीत नहीं होती है । जब तक की वे रुक न जावे तब तक आरे, स्पोक तथा पंखड़ियों का अन्तर प्रतीत नहीं हो पाता है । इसी प्रकार विकल्पों की बहुलता के कारण सन्धि चिद्रुप आत्मा प्रतीत नहीं हो पाती ।

विकल्प अर्थात् अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति कभी शब्दाकार, कभी स्पर्शाकार, कभी रूपाकार, कभी रसाकार तथा कभी गंधाकार होती रहती है । वृत्ति कभी एक शब्द से दूसरे शब्द की ओर, एक रूप को छोड़ दूसरे रूप, रस, गंध की ओर दौड़ती रहती है । कभी कर्मेन्द्रियों के कर्मों को ओर तो कभी ज्ञानेन्द्रियों की ओर दोड़ती है । इस प्रकार वे वृत्तियां एक क्षण के लिये भी विश्राम को प्राप्त नहीं कर पाती है ; किन्तु इन विकल्पों में अधिष्ठान चैतन्य इसी प्रकार व्यापक है जैसे अलंकारों में स्वर्ण व्यापित रहता है । परन्तु विकल्पों के प्रवाह के कारण चैतन्य आत्मा की अनुभूति होने का अवकाश नहीं मिल पाता ।

इस प्रकार विकल्पों का प्रवाह अध्यस्त रूप से बना रहने पर भी विचारशील मुमुक्षु अधिष्ठान साक्षी चैतन्यात्मा का निश्चय कर लेता है । जैसे बादल में आकाश न होता तो बादल किसके सहारे से रहते ? इसी प्रकार दृश्य विकल्पों में यदि द्रष्टा आत्मा न होती तो वे किसके सहारे प्रतीत हो पाते या रह पाते ? अस्तु बादल तथा विकल्प स्वतंत्र नहीं है । इस कारण यह निश्चित होता है कि बादल के भीतर बाहर आकाश एवं विकल्पों के अन्दर-बाहर एक मात्र चिद्रुप आत्मा हो व्याप्त है ।

इसी प्रकार स्वप्न में भी विकल्पों का प्रवाह चलता रहता है । जाग्रत में बुद्धि वृत्ति से विकल्प उठकर इन्द्रिय द्वारा विषय तक जाते हैं किन्तु स्वप्न में विकल्प बाह्य स्थूल विषयों तक नहीं जा केवल अन्दर ही बने रहते हैं । वहां वासना मय लिंगदेह (सूक्ष्म शरीर) स्मरण करता है । एक पदार्थ का स्मरण जैसे ही किया उसी समय वह पदार्थ दिखाई पड़ जाता है । वह गया कि दूसरा विकल्प उठते ही दूसरा पदार्थ दिख पड़ता है । इस प्रकार जाग्रत तथा स्वप्न इन दो अवस्थाओं में विकल्प तो उठते ही रहते हैं, किन्तु निर्विकल्प रूप जो सुषुप्ति अवस्था है उसमें भी अज्ञान रूप वृत्ति बनी रहती है जिस कारण आत्मानुभूति नहीं हो पाती है । इस प्रकार विकल्प का रूप यहाँ भी बना ही रहता है ।

प्रश्न-१६ : फिर आत्मा का अनुभव किस प्रकार विकल्पों के रहते हुए करें ?

उत्तर : ब्रह्मात्मा प्रथम से ही परिपूर्ण है । उसके ऊपर ही अलंकार या मेघमाला की तरह तीन अवस्था उठती है । सर्व प्रथम अज्ञान रूप निर्विकल्प स्फूर्ति उठती है उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं । वही स्फूर्ति मन, बुद्धि में आकर सूक्ष्म विषयों तक भीतर ही भीतर उठती बैठती है जिसे स्वप्नावस्था कहते हैं । फिर वही स्फूर्ति इन्द्रियों के द्वार से निकलकर उनके स्थूल विषयों तक पहुँचती है, उसे जाग्रतावस्था कहते हैं । इस प्रकार तीन अवस्था तीन प्रकार के व्यवहार वाली होने पर भी उनमें अनेकों विकल्प हैं जो कहीं स्पष्ट (जाग्रत) कहीं अस्पष्ट (स्वप्न, सुषुप्ति) रूप से उठते-बैठते रहते हैं । इन विकल्पों के बादलों के कारण चिदाकाश (आत्मा) ढका हुआ रहता है । इन असत् विकल्पों के प्रवाह होते रहने पर भी वे अस्ति, भाति, प्रिय आत्मा का लोप या नाश नहीं कर पाते । यह तो हर समय विद्यमान ही है ।

यदि विकल्पों के कारण आत्मा का लोप हो जाता तो सबके अन्दर है पना (अस्ति) जानना (भाति) आनंदरूपता (प्रिय) कहाँ से व किसे

अनुभव में आती ? यह जिसकी है वही आत्मा है । अज्ञानी जन ही आत्मा का लोप मानेंगे । विचारवान आत्मा का कभी अभाव नहीं देखते हैं । ब्रह्म प्रगट है, उसका विकल्पों से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है । यह स्वयं प्रकाश है । गहरी निद्रा में बिना इन्द्रिय अन्तःकरण के जो अज्ञान एवं सुख का प्रकाश करता है उस आत्मा का अभाव कैसे माना जा सकेगा ? एवं उसे किसी ने ढक रखा है ऐसा भी कैसे समझा जा सकेगा ? जो सुषुप्ति में ढकता नहीं तब वह स्वप्न एवं जाग्रत में तो ढंक ही नहीं सकता ।

आत्मा अद्वितीय प्रकट है । यदि आत्मा प्रकट रूप न होता तो तीनों अवस्थाओं का व्यवहार किसके द्वारा जान सकेंगे ? आत्मा के बिना मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ भी विषय ग्रहण नहीं कर सकेंगी । इस प्रकार स्फूर्ति से लेकर विषय पर्यन्त सभी विकल्पों को आत्मा अपने प्रकट प्रकाश से प्रकाशित करती है । आत्मा नित्य, स्वयं प्रकाश स्वयं सिद्ध होने पर भी अज्ञानी साधक कहते हैं कि मुझे आत्मा का अनुभव नहीं होता । हे मेरे भोले भगवान ! आपके मन, बुद्धि इन्द्रिय विषय को जो जानता है वही आत्मा है और वह आत्मा तुम ही हो । मंद बुद्धि वाले साधकों को प्रथम सोऽहम्, शिवोऽहम् का दृढ़ अनुभव करने हेतु कुछ काल अभ्यास करना योग्य है । अभ्यास से विकल्प की सत्ता का बाध हो एक अद्वितीय चैतन्य 'सोऽहम् ' की अनुभूति होने लगेगी । जैसे बादलों के हट जाने से सूर्य प्रतीत हो जाता है उसी प्रकार विकल्पों के मध्य का संधिकाल बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिये । जिससे चैतन्य की अनुभूति स्पष्ट रूप से हो सकेगी । अभ्यास के लिये साधक को किसी प्रकार प्राण निरोध, आसन एवं मूल बंध आदि हठ योग प्रक्रियाओं को अपनाने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है ।

प्रश्न-१७ : तब विकल्पों को हटाने का अभ्यास किस प्रकार किया जा सकता है कृपया बताने की कृपा करें ?

उत्तर : सर्व प्रथम किसी शांत वातावरण वाले स्थान को चुन लो ।

उस स्थान पर जिस प्रकार सुख मिले, उस आसन में बैठ जावें । फिर सद्गुरु का ध्यान करके नमस्कार करना चाहिये । इसके पश्चात् खुली आँख से जो सामने पदार्थ, वृक्ष, पौधा, पशु, जीव दिख पड़े उसे आप देखें । बाकी सभी इन्द्रियों को शांत रखें उन्हें उनके काम को न करने दे केवल आँख इन्द्रिय को ही काम करने दें । मन को नव इन्द्रियों में से निकाल कर आँख के पीछे लगा दें । नेत्र के समक्ष जो सहज दिखाई पड़े उसे देखें । एक पदार्थ को देख कर वहाँ से दूसरे पदार्थ की ओर दृष्टि करें । उसे देखना छोड़कर, तीसरे पदार्थ की ओर दृष्टि करें । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में दृष्टि जाने से विकल्प वृत्ति उस आकार की हो जावेगी । इस वृत्ति का संकल्प कैसा होता है यह देखना चाहिये कि विकल्प, पदार्थ पर्यन्त तक कैसे जाता है ? वह कहाँ से उत्पन्न हो पदार्थ पर्यन्त किस प्रकार जाता है ? यह अच्छी तरह देखना चाहिये । विचार करने से पता लग सकेगा कि विकल्प नेत्र द्वार से निकलकर पदार्थ पर्यन्त चंचलता पूर्वक जाता है । फिर उसे देखना चाहिये कि किस प्रकार यह विकल्प नेत्र से निकलकर विषय तक जाता है । एक बार देखने से समझ न पड़े उसे बार-बार देखे कि कैसे उत्पन्न होता है । एवं कैसे विषय तक जाता है ? इस प्रकार संकल्प किस प्रकार बाहर-भीतर होता है, उसकी गति कैसी है, वह कैसे उत्पन्न तथा लीन होता है ? यह अनुभव करना चाहिये । उसके बाद नेत्र में से निकलता हुआ विकल्प कहाँ से उत्पन्न होता है यह अन्तर्मुखी दृष्टि करके बहुत समय तक देखते रहना चाहिये । देखते-देखते ऐसी जानकारी होने लगेगी कि यह विकल्प अन्तर में से प्राण के साथ उठता है । तब समझना चाहिये कि हमें विकल्प के मूल का पता चल गया अन्यथा जब तक पता न चले अभ्यास सब समय करते रहना चाहिये इसके बाद संकल्प जहाँ से उठकर पदार्थ तक किस प्रकार पहुँचा वहाँ तक उसे देखना चाहिये । प्रथम संकल्प उठते ही उसे देखे कि वह किस प्रकार उठा फिर यह देखे की वह किस प्रकार पदार्थाकार हुआ एवं लीन हुआ । दिन मे तीन बार थोड़ी-थोड़ी देर इस प्रकार का दृढ़ अभ्यास करना चाहिये । अभ्यास के

समय किये अनुभव का विचार व्यावहारिक काम करते समय भी करें । या जो अनुभव व्यवहारकाल में काम आवे ऐसा अभ्यास के समय चिन्तन करें । दोनों समय एक दूसरे काल का अभ्यास काम आवे ऐसा आलस्य छोड़ करें । बीच में नींद आवे तो खड़े हो, मुँह धो आलस्य को दुर करे और पुनः अभ्यास में बैठ जावे ।

इस प्रकार आज जो अनुभव हुआ है, वह दूसरे दिन सरल हो जाता है । धीरे-धीरे रोज अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये एवं विकल्प उठने तथा लोप होने के अनुभव को तथा विकल्पों द्वारा देखे पदार्थों को दृश्य रूप से निश्चय करना चाहिये । फिर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप विकल्प के चार भेदों का अनुभव करना चाहिये । संकल्प उठते ही दृश्य पदार्थ के प्रति जो संशय उठता है कि यह क्या है उसे मन कहते हैं । फिर उस संशय का चिन्तन होता हुआ दिखाई पड़ता है उस अवस्था को चित्त दशा समझना चाहिये । फिर यह पहचान कर जो निश्चय करता है कि यह अमुक पदार्थ है, उसे बुद्धि कहा जाता है और फिर अन्त में उस निश्चय का अभिमान जो करता है उसे अहंकार समझना चाहिये । इस प्रकार यह विकल्पों के चार भेद है । जो कभी सविकल्प स्फूरण रूप तथा कभी निर्विकल्प रूप उठता है । निर्विकल्प स्फूरण को अन्तःकरण कहते हैं ।

प्रश्न-१८ : वृत्ति को तथा उसके लय को जानने वाला ब्रह्म स्वयं जानने में क्यों नहीं आता ? यदि वह जाने तो उसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर : ब्रह्म जानने में तो तभी आ सकता है, जब उसके ही जैसा दूसरा अविनाशी ब्रह्म हो । वृत्ति अनन्त कल्पों से अपने प्रकाशक के मूल का पता लगाने की चेष्टा कर रही है, किन्तु बिना जाने लौट आती है । अनन्त अपार परमात्मा दृश्य की तरह को जानने का कोई तरीका नहीं । अभाव रूप ब्रह्म नहीं हो सकता । क्योंकि अभाव शून्य रूप होता है और जब शून्य पने

को ही शून्य नहीं जान सकती है तो फिर ब्रह्म को तो जान ही कैसे सकेगी ।

हे आत्मन ! ब्रह्म अपने आपको जाने यह तो विरोधी वचन है । स्वयं, स्वयं को कैसे जाने ? आँख सब कुछ देखते हुए अपने को नहीं देखती । जीभ सब स्वाद जानने पर अपने स्वाद को नहीं जानती । जैसे मनुष्य बहुत कष्ट कर भी अपने कंधे पर बैठ नहीं सकता । नेत्र दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप असत्य नेत्र को देखती है, किन्तु बिम्ब रूप सत्य नेत्र को नहीं देखती है । दर्पण वाले नेत्र के द्वारा गर्दन स्थित नेत्र को देखते है यदि आप ऐसा मानते है, तो दर्पण वाले नेत्र को पत्थर मार फोड़ दें, तो कौनसी आखँ फूटेगी ? अब दर्पण वाली फूटी आँख तो देख नहीं सकती । फिर दर्पण में जो नेत्र दिखाई पड़ रहा था वह सत्य नहीं किन्तु मिथ्या ही है । भला असत्य आँख सत्य आँख को कैसे देख सकेगी ? मुख्य नेत्र ने ही दर्पण तथा दर्पण में दिखने वाले नकली नेत्र को देखा है । गर्दन स्थित नेत्र ने अपने प्रकाशक सत्य नेत्र को कभी नहीं देखा, न देख ही सकती है ।

इसी प्रकार जो परिपूर्ण ब्रह्मात्मा है, वह स्वयं अपने को ''मैं यह हूँ'' इस प्रकार इदम् रूप से, अन्य रूप से नहीं जान सकता । जैसे नेत्र, नेत्र के देखने में नहीं आता, इसी प्रकार ब्रह्म, स्वयं को भी नहीं जान सकता । ब्रह्म स्वयं को नहीं जानता किन्तु वृत्ति एवं वृत्ति में आये जीव, जगत् तथा जगदीश को जानता है । यही उसके जानने का, होने का चैतन्यता का प्रमाण है । आँख, आँख को नहीं देखती । इस कारण उसको अंध नहीं कह सकते हैं । क्योंकि वह अपने अलावा सब दृश्यों को देखती ही है । इसी प्रकार ब्रह्म अपने को नहीं जान सकता । इस कारण उसे जड़ भी नहीं समझना है । क्योंकि अपने से पृथक् अन्तर बाहर सभी दृश्यों को वृत्ति द्वारा जानता रहता है ।

ब्रह्म को जानने की इच्छा करना ही व्यर्थ है । ब्रह्म के होने का यही प्रमाण है कि जब वृति नहीं थी तब उसके अभाव को जिसने जाना वह स्वयं

ही अपरोक्ष आत्म ब्रह्म है । जैसे रात्रि में दीपक के न होने पर अंधकार को जिसने देखा यह वही प्रत्यक्ष आँख है, जो प्रकाश को देख रही है । इसी प्रकार वृत्ति के लय को जानने वाला यही वह आत्म ब्रह्म है जो जाग्रत एवं स्वप्न के सभी वृत्तियों एवं विषयों का अनुभव कर रहा है । इस प्रकार आँख न दिखने पर भी देखने के समान है उसी प्रकार आत्मा स्वयं को न जानने पर भी जानने के समान ही है । देखना मात्र ही आँख का स्वरूप है अन्य नहीं उसी प्रकार जानना मात्र ही ब्रह्म का स्वरूप है अन्य रूप नहीं है ।

यह ज्ञान घन आत्मा विचार द्वारा प्रत्यक्ष मैं रूप में अनुभव में आता है । ''अहंब्रह्मास्मि, शिवोऽहम्'' इस प्रकार का ज्ञान ही ज्ञान है । इससे भिन्न ब्रह्म को अन्य रूप में जानना, देखना, पाना समस्त अज्ञान रूप ही है । मुमुक्षु हेतु जानने के लिये यदि कुछ है तो वह वृत्ति के लय को जानने वाला ही है । इस वृत्ति के साक्षी का विचार करने से पूर्व वृत्ति के उत्पत्ति तथा लय को पहचानने का अभ्यास मंद साधक को करना चाहिये । अन्यथा इस सूक्ष्म आत्म विचार में उसका मन प्रवेश नहीं कर सकेगा ।

प्रश्न-१९ : निर्विकल्प दशा सब समय बनी रहे इसके लिये क्या उपाय करें ?

उत्तर : निर्विकल्प स्थिति सदैव ही रहती है, वह कभी नष्ट नहीं होती । जैसे तारे आकाश में नित्य ही विद्यमान रहते हैं, किन्तु दिन के तेज प्रकाश में वह प्रतीत नहीं होते हैं । अथवा जैसे दिन के प्रकाश में दूर रखा जलता दीपक प्रतीत नहीं होता ।

सविकल्प जड़ सहित नष्ट हो जावे, और फिर कभी उत्पन्न न हो, तभी निर्विकल्प स्थिति की अखंडता का बोध होगा । ऐसा कहना अज्ञान ही है, क्योंकि बिना निर्विकल्प के सविकल्प का बोध ही नहीं होता है । यह इच्छा तो ऐसी है, जैसे कोई पुरुष नदी के किनारे वृक्ष पर बैठ कहे, कि मैं वृक्ष पर बैठा हुआ तभी मानु, जब पानी में मेरा आभास न दिखाई पड़े । तो

ऐसी इच्छा वाले जिज्ञासु से प्रश्न करना चाहिये कि (१) तेरे निर्विकल्प में जो सविकल्पता देखने में आई उससे क्या तू सविकल्प हुआ ? (२) अथवा क्या उस सविकल्प दृश्य ने तुझे खींचकर अपनी ओर लाया ? (३) अथवा क्या सविकल्प के उदय अस्त से तू निर्विकल्प बन्धन में पड़ सका ?

यदि यह कहा जावे कि निर्विकल्प सविकल्प हुआ तो यह कहना ही अज्ञान है । क्योंकि जिस मुख से निर्विकल्प कहता है उसी मुख से सविकल्प हुआ ऐसा कहता है तो निर्विकल्प बोलना व्यर्थ हुआ । जिसे सविकल्पता आ गई वह निर्विकल्प है ही नहीं । सविकल्प को जानने वाला तू स्वयं निर्विकल्प ब्रह्मात्मा है । यदि सविकल्प हो गया ऐसा तू जानता है तो फिर तूने निर्विकल्पता को समझा ही नहीं । अज्ञानता से सविकल्पता को ही निर्विकल्पता मान लिया है ।

दूसरे शंका का समाधान का द्रष्टान्त यह है कि जैसे वायु आकाश में उत्पन्न होने से आकाश को खींचकर चंचल नहीं बनाती । इसी प्रकार जो निर्विकल्प ब्रह्म है, उसे सविकल्प उत्पन्न होकर चंचल नहीं कर सकता ।

तीसरे प्रश्न का उत्तर जानलो कि क्या तरंग उत्पन्न होने से पानी उत्पन्न होता है या तरंग नष्ट होने से पानी नष्ट होता है ? अथवा क्या बादलों के छिन्न-भिन्न होने से अचल, अखंड, व्यापक आकाश छिन्न-भिन्न चंचल एवं खंडित होता है ? उसी प्रकार सविकल्प उत्पन्न होकर निर्विकल्प को पहले से ही जन्म-मरण दे रहा है तो फिर साधक की मुक्ति किस प्रकार हो सकेगी ? इस प्रकार इन तीनों विकल्पों में बहुत दोष प्रतीत होते हैं । अतः निर्विकल्प अचल, आत्मा स्थिर हो ऐसी व्यर्थ कल्पना एवं चेष्टा करना ही मूढ़ता है । जैसे जले को जलाने की, पिसे हुए को पीसाने की, मरे हुए को मारने की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार स्थिर निर्विकल्प को शान्त निर्विकल्प बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है ?

प्रश्न-२० : निर्विकल्प दशा सब समय कैसे रहे ?

उत्तर : यदि तुम कहो कि स्थिरता होनी चाहिये, तो आप यह भी विचारो कि कौन स्थिर हो ? सविकल्प या निर्विकल्प ? जो निर्विकल्प पहले से ही है उसे नये ढंग से निर्विकल्पता प्रदान करने की आवश्यकता नहीं है । यदि निर्विकल्प को निर्विकल्प करने की इच्छा रहे तो समझना चाहिये कि अभी निर्विकल्प को जाना ही नहीं है । ध्यान रखें ! यदि निर्विकल्प, अखंड, एक रस, ब्रह्मात्मा को जाने बिना एक सौ वर्ष तक प्राणवायु का निरोध करके जड़वत् बैठ जावें तो भी इस जड़ता का कोई उपयोग नहीं ।

जब तक देह उपाधि है तब तक सविकल्पता रहने की ही है । जैसे मरूस्थल तथा सूर्य की किरण रहने तक वहाँ पानी का आभास होना बंद नहीं हो सकता है । भले कोई मूर्ख उस 'मरीचिका नीर' को सत्य माने या कोई समझदार उस जल को मिथ्या जाने । इसी प्रकार देह प्राणादिक उपाधि जब तक है तब तक सविकल्प वृत्ति उठेगा ही, फिर भले कोई मूर्ख उसे सत्य माने या कोई विचारवान् मिथ्या माने ।

सविकल्प वृत्ति तो देह, प्राण तथा अन्तःकरण उपाधि रहने तक जाग्रत तथा स्वप्नकाल में उठती ही रहेगी । उसे जो अज्ञानी सत्य मानेगा वह बन्धन में अवश्य पड़ेगा और जो ज्ञानी सविकल्प को मिथ्या मानेगा वह मुक्त ही रहेगा । जिसने अपने वास्तविक नित्य निर्विकल्प रूप को जान लिया उसके लिये सविकल्प उठे या मरे, वह शान्त एवं निश्चिन्त है । अब उसे कोई भय नहीं । मुमुक्षु को बस इतना ही साधन करना कर्तव्य है कि सविकल्पता उठे तो उसे कभी सत्य नहीं माने । फिर वह उठे या लोप हो जावे उसकी कोई चिन्ता नहीं ।

यदि तुम कहो कि सविकल्प नष्ट होना ही चाहिये तो इसका मतलब है कि तुमने सविकल्पता को सत्य माना है । यदि तुम वृत्ति निरोध करने के फेर में पड़ गये तो तुम कल्प के अन्त तक भी मुक्त नहीं हो सकोगे । शान्त जल दर्शन की इच्छा वाला पुरुष यदि लहरों को रोकने के लिये सरोवर में

पत्थर मारे तो फिर वह कभी शान्त जल का अनुभव ही नहीं कर सकेगा । जल बोध का सही तरीका यह है कि यह लहरें नहीं है, जल ही है । ऐसा विचार ही जल बोध का एकमात्र उपाय है । इसी प्रकार लहरवत् सविकल्प को मिथ्या रूप मान लिया जाय तो तुम अभी ही निर्विकल्प एवं मुक्त ही हो । इस प्रकार जिसने अपने निर्विकल्प अखंड एक रस स्वरूप को जान लिया उसके लिये फिर सविकल्प हो या न हो कोई चिन्ता नहीं ।

प्रश्न-२१ : मन सदा आत्मभाव में न रहकर दृश्य मैं क्यों फंस जाता है ?

उत्तर : जब तक अपने निर्विकल्प यथार्थ स्वरूप को मैं रूप से नहीं जाना है, तभी तक मन का फुरना, चंचलता बाधा रूप प्रतीत होता रहता है । इसीलिये मन की चंचलता से दुःखी एवं स्थिरता से सुखी अज्ञानी जीव अपने को मानता रहता है । जाग्रत होते ही वृत्ति उठती है एवं उसी के सविकल्पता के कारण मैं निर्विकल्प सुषुप्तिवत् जाग्रत में भी हूँ ऐसा स्पष्ट भान नहीं हो पाता । जब एकबार अपने निर्विकल्प स्वरूप को भली प्रकार युक्ति, प्रमाण एवं सद्गुरु उपदेश द्वारा जान लिया, फिर चाहे सविकल्प उत्पन्न हो या नष्ट हो किन्तु वह साक्षी को विघ्न कर नहीं पाता ।

देह से लेकर अन्तःकरण तक समस्त सविकल्प मिथ्या है ऐसा निश्चय सर्वदा मन में रखना चाहिये । वृत्ति उठे या लोप हो वह मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकती । मन की, फुरना, चंचलता, विक्षेप तथा दुःख मेरा है, यदि ऐसी मिथ्या धारणा बनाली एवं पर के धर्म को निज-धर्म मान लिया, तो वह दुःख का हेतु बनेगा । इसलिए मन एवं उसकी समस्त वृत्ति विषय को मैं रूप से नहीं जान दृश्य रूप से पृथक् ही जानना चाहिये । मैं पुरुष या स्त्री हूँ ऐसी धारणा की तरह मैं तो सबका द्रष्टा, साक्षी एकमात्र निर्विकल्पात्मा हूँ ऐसी धारणा ही दृढ़ करना चाहिये ।

अज्ञान एवं विक्षेप काल में आत्मा का जैसा स्वरूप रहता है वैसा

ही एक रस समाधि एवं ज्ञानकाल में भी रहता है । अज्ञानता से वृत्ति के उत्थान-लय के सहवास से वृत्ति की चंचलता अपने में आरोपित कर मैं चंचल-दुःखी विक्षिप्त हूँ, एवं मन के शांत होने को मैं शांत हुआ ऐसा मानने लग जाता है । इस प्रकार अज्ञानी जीव वृत्ति जाल में फंस कर दुःख-सुख के प्रवाह में पड़ जाता है । जो निश्चल है, वह निश्चल ही रहेगा एवं जो चंचल है वह चंचलता धर्म को छोड़ नहीं सकेगा । लय साक्षी जो ब्रह्मात्मा है, वह मैं ही हूँ तथा वृत्ति से लेकर देह पर्यन्त जो कुछ दृश्य वर्ग है यह सब धर्मा-धर्म मैं नहीं हूँ । मैं तो सबका अनुभव करने वाला साक्षी आत्मा हूँ ।

जो बन्धा है वही मन (जीव) मुक्त होगा । जो रोगी है वही निरोगी दशा को प्राप्त करेगा । जो भ्रान्त हुआ है, वही निभ्रान्त होगा । मुझ में मुक्ति की गुंजाइश नहीं है । बन्धन में पड़ा देहाभिमानी जीव ही अज्ञान के कारण अनादिकाल से संसार चक्र में भ्रमित हो रहा है । भ्रमण करते-करते जब जीव के पुण्य फलित होते हैं, तभी संसार के भोग पदार्थों से वैराग्य होता है एवं किसी सद्गुरु की प्राप्ति होती है । जीव तब मुमुक्षु हो सद्गुरु की सेवा द्वारा प्रसन्नता प्राप्त कर उनसे वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अपने भूले स्वरूप को स्मरण करता है । यदि वह तीव्र बुद्धि वाला है तो उसे तत्काल ही अपने मुक्त स्वरूप का दृढ़ बोध हो जाता है । यदि वह मंद बुद्धि वाला है, तो कुछ काल अभ्यास के फलस्वरूप अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, कि मैं ही नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्द, आत्मा हूँ । सब वृत्ति के लय का साक्षी मैं ब्रह्मात्मा हूँ । दृश्य मन, वृत्ति मैं नहीं हूँ ।

अवान्तर वाक्य द्वारा मुमुक्षु का असत्वापादक आवरण दूर हो आत्मा का परोक्षज्ञान होता है । फिर 'तत्त्वमसि' महावाक्य श्रवण द्वारा अपरोक्ष ज्ञान से वह मैं हूँ, ऐसा बोध होने से अभानापादक आवरण भी नष्ट हो जाता है । ऐसा मुमुक्षु जो अज्ञानावस्था में कहा करता था कि मैं अपने को नहीं जानता, मैं आत्मा परमात्मा को नहीं जानता, आत्मा अपरोक्षता से

उसका स्वरूप अज्ञान नष्ट हो, स्वरूप ज्ञान हो जाता है ।

श्रद्धालु मुमुक्षु सद्गुरु की कृपा प्रसाद से यह जान पाता है कि सर्व का साक्षी मैं चैतन्य द्रष्टा आत्मा हूँ । मैं अज्ञानता से साक्षात् अपरोक्ष होते हुए भी परोक्ष, दूर रूप मान बैठा था व अपने को देह संघात् मान दुःखी हो रहा किन्तु सद्गुरु कृपा से अब मैंने अपने को द्रष्टा साक्षी रूप भली प्रकार जान लिया है । अब देहादि सर्व समुदाय मिथ्या है यह निश्चय हुआ और यह सब दृश्य समुदाय मैं नहीं ऐसा अनुभव में आया ।

जीव अपरोक्ष ज्ञान द्वारा अपने आप से अपने आपको प्राप्त होता है । यह अवस्था मन की ही है, आत्मा में प्राप्त अप्राप्त नहीं होता । आत्मा को अपने में मृत्यु एवं अज्ञान का भ्रम भी कभी नहीं हुआ कि मैं मर रहा हूँ । मृत्यु को जानने वाला अवश्य अमृत है । तथा मैं अज्ञानी हूँ, इस वृत्ति को जानने वाला अवश्य ज्ञान स्वरूप है । जन्म, मृत्यु, भाव, अभाव, उदय, अस्त, सुख-दुःख द्वन्द्व को जो जानता है वही आत्मा है । इस प्रकार ब्रह्म को न स्वरूप विस्मरण होता है न स्मरण करना कर्तव्य है । न चंचल होता है, न उसे शान्त होना है । न बंधन है, न उसे मुक्ति मिलना है । आभास रूप जीव ही बुद्धि उत्पन्न हुआ है एवं वही अपने मूल अधिष्ठान आत्मा को भूल देहाभिमान करता हुआ चौरासी लाख योनि में भटकता रहता है । जिस जीव को जन्म-मरण से छूटने की तीव्र जिज्ञासा होती है उसी जीव को सद्गुरु के उपदेश से अपरोक्ष ज्ञान हो वह जन्म-मरण के भ्रम चक्र से छूट पाता है ।

साध्य (प्राप्तव्य) अपना स्वरूप ही है, वह कोई प्राप्तव्य अन्य पदार्थ नहीं है । मृग कस्तूरीवत् आत्म ब्रह्म सभी को नित्य प्राप्त ही है । बस गुरु कृपा से ऐसा बोध जाग्रत होते ही जीव कृत-कृत्य हो जाता है । उसके सभी कर्म-भक्ति योगादि साधन सफल हो जाते हैं । अब उसके लिये साधन की भी समाप्ति हो जाती है । अब उसे कुछ भी करना बाकी नहीं रहा । बस यह कृत कृत्यता ही साधन की चरम सीमा एवं सफलता है । जिस महत्वपूर्ण

कार्य के लिये देव-दुर्लभ मानव जीवन प्राप्त हुआ था वह सफल हो गया अनादि भूले आत्म स्वरूप का स्मरण होना ही सद्गुरु की कृपा का प्रत्यक्ष फल अनुभव में आ गया । अब न कुछ करना, न कुछ पाना, न कुछ जानना, न कुछ पढ़ना बाकी रहा । अब मैं अपने आप में ही शान्त हूँ ऐसा जानता है । इससे बड़ी कोई तृप्ति नहीं है इससे सब नीची अवस्था है ।

प्रश्न-२२ : ''नेह नानास्ति किंचन'' ''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'' कहने का क्या तात्पर्य है ? यहाँ तो नाना भेद भासित होते हैं ।

उत्तर : ''ब्रह्म एवं निर्विकल्पम्'' अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्म केवल पूर्ण रूप से आत्माराम है । इसमें किंचित् भी संशय नहीं है । जिस ब्रह्म में माया-अविद्या ही उत्पन्न नहीं हुई उसमें जीव-ईश्वर रूप द्वैत कहाँ से होगा ? जीव-ईश्वर यह नाम रूप उसी प्रकार ब्रह्म में मिथ्या आरोपित है, जिस प्रकार मंद अन्धकार में पड़ी रस्सी में सर्प नाम रूप मिथ्या है । रस्सी के सहारे भासित होने वाला सर्प का विकार रस्सी को तनिक भी स्पर्श नहीं कर सकता है । उसी प्रकार यह अनेक प्रकार के मिथ्या जीवोंके धर्म, शुद्ध निर्विकल्प ब्रह्म को स्पर्श नहीं करते हैं । जहाँ माया ही उत्पन्न नहीं हुई तब वहाँ विद्या-अविद्या उपाधि कहाँ से उत्पन्न होगी ? और जहाँ विद्या-अविद्या उपाधि ही नहीं तब ब्रह्म में ईश्वर-जीव चिदाभास भी कहाँ से होगा ? जब ईश्वर ही नहीं है तब चार प्रकार से चौरासी लाख जगत कहाँ से उत्पन्न होगा ? जब जीव उत्पन्न ही नहीं हुआ तब स्वरूप विस्मरण रूप अज्ञान भी कैसे पैदा हो सकेगा ? जब स्वरूप का अज्ञान ही नहीं हुआ तब असत्वापादक तथा अभानापादक (नास्ति, नभाति) यह दो प्रकार का आवरण कहाँ से आया ? जीव ही जब नहीं हुआ तो उसे विक्षेप भी कहाँ से होगा ? एवं जब विक्षेप ही नहीं तो शान्ति समाधि हेतु कौन साधन आकांक्षा करेगा ? जब बन्धन ही नहीं है, तब मुक्ति गत साधन एवं मुक्ति भी कल्पना मात्र है ।

देहाभिमानी के संचित् पाप-पुण्य से प्रारब्ध बन जीव नीच-ऊँच

तथा मध्यम योनियों में भ्रमण तथा जन्म-मरण बन्धन को प्राप्त होता है । ये सब मिथ्या कल्पित भ्रम मात्र है । जब जीव ही भ्रम है, तब उसका उत्पन्न होना, कर्म करना एवं फल भोग कहना भी मिथ्या ही है । जैसे रस्सी में कौनसा सर्प उत्पन्न हुआ एवं उसने किसको दंश किया, कितने दांत लगाये, कितना जहर फैलाया एवं उससे किस व्यक्ति की मृत्यु हुई एवं उसे किस मंत्र से, किस गारूड़ी ने किसे पीड़ा से मुक्त किया ? यह व्यवहार जैसे मिथ्या है ।

उसी प्रकार जब जीव की उत्पत्ति ही नहीं हुई तो फिर अज्ञान-आवरण किसको होगा ? और विक्षेप रूप अभिमान किसे होगा, जो जन्म-मरण को प्राप्त होता रहेगा ? कोई भी जन्म-मरण के बन्धन में नहीं बंधा है । फिर उसे गुरु रूपी गारूड़ी ने आकर अज्ञान रूपी सर्प के दंश पीड़ा से व्यथित उस व्यक्ति को ज्ञान मंत्र द्वारा झाड़-फूँक कर जन्म-मरण की मूर्च्छा से मुक्त किया यह कहाँ तक सत्य माना जा सकेगा ?

बंध एवं मोक्ष यह बोलना ही निष्फल है । बंध तथा मोक्ष जीव को त्रिकाल में नहीं हुआ । रज्जु-सर्प में ही गमनादि विकृति नहीं तब उसके अधिष्ठान रज्जु में तो विकार हो ही कैसे सकता है ? ब्रह्मात्मा को देह कैसे हो सकता है ? उसको जब देह ही नहीं तो स्वरूप भ्रम अज्ञान-आवरण भी कैसा ? उसको जब देह ही नहीं तो सुख-दुःखात्मक मन कृत विक्षेप कैसे ? जब विक्षेप नहीं तो गुरु शरण जाना एवं सेवक स्वामी भाव भी कहाँ ? तो फिर गुरु-शिष्य भाव भी कहाँ ?

सत्य तो यह है कि सत्गुरु के उपदेश करने के पहले ही ब्रह्मात्मा सत् चित, आनंद स्वरूप है । ब्रह्म को ''ब्रह्म है'' ऐसा परोक्ष ज्ञान ही नहीं तब उसे अपरोक्ष ज्ञान हेतु अभ्यास-विचार रूप निदिध्यासन की भी आवश्यकता कहाँ ? ब्रह्म कभी पंचकोश में बद्ध ही नहीं हुआ, तब उसे पंचकोशातीत विवेक करने की भी आवश्यकता कहाँ ? न वह बुद्ध है, न

प्रबुद्ध है, न अल्पज्ञ है, न सर्वज्ञ है । न उसने ''अहं ब्रह्म।स्मि''का अभिमान किया । उसे न समाधि की, न समाधि से सुख प्राप्त किया, न नित्य सहज समाधि से उसका कभी उत्थान ही हुआ, न लय साक्षी का कभी साक्षात्कार किया । उसे ब्रह्म परोक्षता का शोक ही नहीं हुआ जो अपरोक्ष ज्ञान करके नाश हुआ हो ?

बताइये किसने किस साध्य को किस साधन से प्राप्त किया जब साध्य-साधन ही नहीं तब कृत-कृत्यता कैसी ? तब निर्विकल्प को जीवन्मुक्ति, कैवल्य मुक्ति, सहज समाधि, नित्य मुक्ति, एक्य भक्ति आदि किसी भी प्रकार का द्वन्द्व कैसे हो सकता है ? यह समस्त द्वन्द तो अविद्याजनक चिदाभास अंश में ही है । जो आदि मध्य तथा अन्त में सच्चिदानन्द मूर्ति है, उस निर्विकल्प में सविकल्प के धर्म कैसे आ सकते हैं । जो-जो वाणी से कहा जाता है वह सब सविकल्प का ही तमाशा है ।

अज्ञानी को प्रथम ऐसा निश्चय होता है कि ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होने के बाद, दृश्य का अभाव हो जावेगा, सविकल्पता का उत्थान नहीं होगा । फिर केवल शुद्ध निर्विकल्प ही रहेगा । तो ऐसा समझ लो कि जो निर्विकल्प रूप अखंड एक रस सत्ता है, उसे कौन सविकल्प रूप में खंड-खंड विकारी बना सकेगा ? और निर्विकल्प को कोई क्या निर्विकल्प बनावेगा ? जैसे पिसे पदार्थ को और नहीं पीसना पड़ता, जले को जलाना नहीं होता, इसी प्रकार नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तात्मा की पूर्णता, मुक्तक्ता, शुद्धता के लिये अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है । निर्विकल्प का सविकल्प, निराकार का साकार रूप में परिणाम मानना बुद्धि का भ्रम मात्र ही है । जो निर्विकल्प समस्त वृत्ति विषय का ज्ञाता लय साक्षी ब्रह्म है वह तू स्वयं ही है ।

हे आत्मन् ! ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त समस्त को मिथ्या जान कर, जिसने इनका अभिमान त्याग किया है एवं निश्चय किया है कि मैं निःसन्देह यह समस्त दृश्य पदार्थ नहीं हूँ, किन्तु मैं तो स्वतः निर्विकल्प ब्रह्म हूँ । बहुत

कालों से अपने स्वरूप को भूला बैठा था । अब गुरु कृपा से मैं अपने आपको जान पाया हूँ । यह धारणा भी चिदाभास सविकल्प जीव की है । शुद्ध ब्रह्म चिदात्मा की नहीं है ।

इस प्रकार के स्वरूप निश्चय से जिसे आनंद प्राप्त होता है, वह सविकल्प जीव ही है । निर्विकल्प स्वरूप में कभी विकार ही नहीं आया वह अपने स्वरूप में एकरस अचल रूप से ही विद्यमान है । ऐसा होने पर भी निर्विकल्प सविकल्प रूप हुआ ऐसा मानना भ्रान्ति ही है ।

अरे भाई ! जब सविकल्प जीव में अज्ञान था तब भी तुझ निर्विकल्प में सविकल्प पना लेश मात्र भी नहीं था तो फिर अब अपरोक्ष ज्ञान होने के बाद निर्विकल्प सविकल्प हुआ, ऐसा तेरा मानना एवं कहना ही व्यर्थ है । इस कारण समस्त बुद्धि कृत भ्रम छोड़कर ऐसा निश्चय कर की सृष्टि के प्रारम्भ में जैसा अद्वितीय सत ब्रह्म था वैसा ही अभी मध्य एवं अन्त में भी है । इसी प्रकार की दृढ़ निष्ठा बिना, अन्य साधन करने की क्या आवश्यकता है ।

निर्विकल्प अपने आपको नहीं पहचानेगा । जिसका स्वरूप ही विज्ञाता है, उसे किस अन्य बुद्धि से जाना जावे । अर्थात् सविकल्प ही निर्विकल्प को जानता है । उसे ही अपने अधिष्ठान निर्विकल्प का अज्ञान था और उसे ही मैं निर्विकल्प हूँ ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हुआ । इसी सविकल्प ने अज्ञान से देहाभिमान धारण किया था, उसी हेतु से उसे बन्धन प्राप्त हुआ और उसी देहाभिमानी जीव ने 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा शुद्ध अभिमान गुरु कृपा से धारण कर अब वही मुक्त हुआ है ।

अहं ब्रह्मास्मि का अभिमान सविकल्प चंचल चिदाभास जीव को ही होता है । जो निर्विकल्प है वह तो निर्विकल्प ही है वह तो किंचित् मात्र भी विचलित् नहीं होता है । चंचल ही अचंचलपना लेकर बंधन से छूटता है । उससे निर्विकल्प चिदात्मा की कोई हानि-लाभ नहीं होती है । वह तो सब

अवस्था में ज्यों का त्यों निर्विकल्प ही रहता है । सविकल्प जीव को यदि कोई लाभ मिले तो वह भले ही प्राप्त करे । इसमें तेरा क्या गया ? उसने अभ्यास द्वारा निर्विकल्प को किंचित् भी निर्विकल्प नहीं बनाया वह तो जैसा का तैसा पहले से ही निर्विकल्प ही है । सविकल्प ही क्षणभर ठहरकर पुनः चंचल होता है । इसमें तुझ लय साक्षी की क्या हानि तू वृत्ति को रोकने का दुराग्रह त्याग कर । क्योंकि वृत्ति का स्वाभाव ही उदय-अस्त वाला है ।

और तू व्यर्थ ही क्यों दुःखी होता है कि हाय ! मैंने बहुत अभ्यास से वृत्ति स्थिर की थी, फिर यह ब्रह्मानंद को छोड़ विषयानंद की ओर क्यों भाग गई ? ऐसी अब तू उनकी चिन्ता छोड़ दे एवं स्वयं को उनका साक्षी जानता रह ।

प्रश्न-२३ : जब मैं देह हूँ यह बुद्धि वृत्ति मोक्ष में विघ्न रूप है, तब ''मैं ब्रह्म हूँ'' यह मनोवृत्ति कैसे मंगलमय हो सकती है ?

उत्तर : ''अहं ब्रह्मास्मि'' वृत्ति के कारण ही देहाभिमान नष्ट होता है । इसलिये इस मिथ्या देह वृति नाशक अहं ब्रह्मास्मि का विस्मरण नहीं होने देना चाहिये । क्योंकि यथार्थ ज्ञान होने के बाद निर्विकल्प साक्षी ''जो ब्रह्म है'' वही ब्रह्मात्मा मैं हूँ'' इस प्रकार का यह ज्ञान केवल सत्य का ही अभिमान होने से मोक्ष में बाधक नहीं है ।

जब तक समस्त वृत्तियों के उदय-अस्त के साक्षी ब्रह्मात्मा का मैं रूप से निश्चय नहीं हुआ है और यदि कोई अपने को देह, इन्द्रिय एवं मनोवृत्ति रूप ही जानता हुआ केवल वाणी द्वारा शिवोऽहम्, सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार का मिथ्या अभिमान करता है तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि उसने अपने यथार्थ ब्रह्म स्वरूप को तो जाना ही नहीं है । जैसे देह में ब्रह्मत्व नहीं उसी प्रकार वृत्ति या वृत्ति शून्यता में ब्रह्मत्व नहीं है ।

मैं देह हूँ ऐसा मिथ्या देहाभिमानी जीव का बन्धन किसी भी प्रकार नहीं छूटता है । भले ही वह श्वाँस-श्वाँस से सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहम् की माला ही क्यों न करता रहे । स्वरूप अनुभव हुए बिना सब व्यर्थ वाणी का विकार एवं मनोविलास मात्र है । समस्त वृत्ति के उठने व लय का साक्षी स्वयं आत्मा का मैं रूप से जब तक बोध नहीं हुआ है, वहाँ तक अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति अज्ञानी देहाभिमानी के लिए अयथार्थ एवं परम बाधक भी है । जब तत्त्व बोध हो जाता है, तब वही ''अहं ब्रह्मास्मि'' अभिमान जीव को देहभाव से मुक्ति प्रदायक भी होता है ।

इसलिये सद्गुरु कहते हैं कि सोऽहम्, शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि आदि जो सत्य अभिमान है वह निराभिमान रूप होने से साधक को सोऽहम्, शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि का चिन्तन आवृत्ति करते रहना चाहिये । इस प्रकार के चिन्तन,मनन से देहाभिमान नष्ट होने लगता है ।

यदि देहाभिमान की तरह आत्म भाव दृढ़ हो गया तो उसके बाद प्रवृत्ति प्रधान प्रारब्धवश अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति की आवृत्ति न हो सके तो भी उस आत्माभिमानी को बन्धन की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । जिस प्रकार अज्ञानी की बिना जप, ध्यान किये देह वृत्ति अखंड बनी रहती है, इसी प्रकार जब बिना जप, ध्यान किये ब्रह्म वृत्ति बनी रहे तभी वह परम पद को पाता है ।

अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति का विचारपूर्वक जितना विकास होता जावेगा उतना ही अनादिकालिन देहाभिमान (देह बुद्धि) का नाश होता जावेगा । सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति की आवृत्ति किये बिना आत्मा का दृढ़ निश्चय नहीं हो सकता । मुख्य ब्रह्माकार वृत्ति के अज्ञान के कारण ही विपरीत देहाभिमान दृढ़ होता चला गया । उसे हटाने हेतु ''मैं निर्विकल्प ब्रह्म हूँ'' ऐसी वृत्ति का बार-बार अभ्यास करें । अस्तु मैं ब्रह्म हूँ ऐसा चिन्तन निरन्तर करते रहो जिससे देहाभिमान पूर्णरूपेण नष्ट हो जावेगा ।

प्रश्न-२४ : निर्विकल्प से सविकल्प, चिदात्मा से चिदाभास,

आकाश से वायु की तरह भिन्न होने पर भी ''मैं ब्रह्म हूँ'' यह मिथ्या जीव अभिमान करने का अधिकरी हो सकेगा ?

उत्तर : हे आत्मन ! तू अज्ञानता से ही सविकल्प तथा निर्विकल्प को, प्रतिबिम्ब तथा बिम्ब को पृथक् कहता है । प्रतिबिम्ब बिम्ब से जैसे अभिन्न है उसी प्रकार सविकल्प भी निर्विकल्प से भिन्न नहीं है । जैसा निर्विकल्प है उसी प्रकार वैसा ही सविकल्प होता, तो यह उसके ही जैसा अन्य है, ऐसा कहने में आता है । दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है, वह मुख्य बिम्ब से जुदा नहीं है । उसी प्रकार सविकल्प (चिदाभास) यह निर्विकल्प (चिदात्मा) का प्रतिबिम्ब ही तो है । वह अपने बिम्ब से अलग कैसे हो सकेगा ? निर्विकल्प का जो स्वभाव है, वही सविकल्प में प्रतिबिम्बित होता है । भेद इतना ही है कि बिम्ब सत्य एवं प्रतिविम्ब मिथ्या मात्र है । इसलिये यह मिथ्या चिदाभास रूप जीव में सविकल्प जीव नहीं हूँ, किन्तु इस चिदाभास का प्रकाशक जो अधिष्ठान, सत्य निर्विकल्प चिदात्मा है, वही मैं हूँ । ऐसा चिदाभास द्वारा निर्विकल्प चिदात्मा का अभिमान योग्य ही है । दर्पण के सम्मुख खड़े व्यक्ति का दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी वह प्रतिबिम्बित पुरुष यही मानता है कि मैं दर्पण में दिखाई पड़ने वाला प्रतिबिम्ब नहीं, किन्तु दर्पण के सम्मुख खड़ा बिम्ब पुरुष ही हूँ । ऐसा अभिमान ही प्रतिबिम्ब को करना इष्ट है । उसी प्रकार सविकल्प चिदाभास जीव को मैं निर्विकल्प चिदात्मा ब्रह्म हूँ ऐसा मानना ही इष्ट एवं मगंल रूप हैं । सविकल्प चिदाभास जीव का यथार्थ स्वरूप निर्विकल्प चिदात्मा ब्रह्म ही है । इसलिये सविकल्प जीव का मैं निर्विकल्प ब्रह्म ही हूँ । ऐसा जानना चाहिये । इसलीये सविकल्प जीव निर्विकल्प ब्रह्म हूँ ऐसा मानना अज्ञान नहीं ज्ञान ही है । अयथार्थ नहीं, अपितु यथार्थ ही है । यही तो उसका परम विश्राम स्थान निजधाम ही है ।

प्रश्न-२५ : सविकल्प जीव अपने नाश की इच्छा कर मैं नहीं हूँ, बल्कि ब्रह्म ही सब कुछ है ऐसा कैसे मान सकता है ?

उत्तर : जैसे किसी दरिद्र व्यक्ति को कोई देवी आकाशवाणी द्वारा यह सूचित करे, कि यदि तू अचल राज्य चाहता है, तो सर्व प्रथम मेरे सम्मुख अपने देह का बलिदान कर, फिर मैं तुझे ध्रुव राज्य प्रदान कर दूँगी । इस प्रकार महान् आनन्द हेतु अल्प दुःख स्वीकार कर लिया जाता है । उसी प्रकार निर्विकल्प अविनाशी ब्रह्म की सम्पत्ति लाभ के लिये सविकल्प जीव भाव की आहूती देना सहर्ष स्वीकार हो जाता है । यदि अल्पज्ञ दरिद्रता की आहुती देने से सच्चिदानंद की प्राप्ति हो जावे तो वह घाटे का काम नहीं, किन्तु महान् लाभ ही है ।

यह तन विष की बेल है, आत्मामृत की खान ।
शीश कटाये जो मिले, तो भी सस्ता जान ।।

साधक को अहं ब्रह्मास्मि स्वरूप का विस्मरण नहीं होना चाहिये । उसे स्फूर्ति से लेकर देह पर्यन्त किसी में भी थोड़ा भी मैं भाव नहीं करना चाहिये; क्योंकि लय साक्षी को छोड़ सभी दृश्य रूप होने से नाशवान् है एवं दृश्य में अहंकार दुःख का ही हेतु होता है ।

प्रश्न-२६ : व्यवहारकाल में बार-बार मैं भाव जाग्रत हो जाता है एवं द्रष्टा भाव का लोप हो जाता है तब उसके लिये साधक को क्या करना चाहिये ?

उत्तर : यदि साधक के मन में यह दृढ़ निश्चय हो गया है, कि सविकल्प अर्थात् देह संघात् में अभिमान बन्धन रूप है, तब वह स्वयं उससे डरता रहेगा । व्यवहारकाल के देह, इन्द्रिय, प्राण, मनादि में मैं पने का भाव जाग्रत होते ही आखँ में पड़ गये कचरे के समान तत्काल दूर कर देना चाहिये । उसी प्रकार मैं सविकल्प दृश्य देह संघात नहीं हूँ, तब उसमें मैं पना क्यों

करूं ? मैं तो निर्विकल्प ब्रह्म हूँ ।

''अहं निर्विकल्पी निराकार रूपी,
चिदानंद रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्''

इस प्रकार का निदिध्यासन रूप तत्त्व विचार करके पूर्व अभ्यास से आये सविकल्प देह भाव का परित्याग कर देना चाहिये । जैसे मृगनी के बच्चे में आसक्त भरतजी मृग योनि में पहुँच कर, वहाँ के जाति समुदाय से डर एकान्त में पड़े रहते थे । क्योंकि उन्हें अपने पूर्व जन्म की भूल का स्मरण हो आया कि एक मृगनी के बालक में आसक्ति करने से मेरा परमार्थ नष्ट हुआ । अब यदि मैं इस मृग जाति में पुनः ममता एवं इस देह में मोह करूँगा तो पता नहीं मेरी क्या दुर्दशा होगी ? इसी कारण वह डर कर थोड़ा सा आहार करते, एवं एकान्त में पड़े रहते थे । इस प्रकार वह मृग योनि में जाकर भी संन्यासी ही बने रहे । यह स्मरण बना होने से, मैं मृग नहीं हूँ ऐसी धारणा बनी रहती थी ।

इसी प्रकार निर्विकल्प ब्रह्म ही जीव का वास्तविक स्वरूप है, फिर भी अज्ञानता के कारण जीव सविकल्पता को प्राप्त हो जन्म-मरण चक्र में भटक रहा है । जब जीव गुरु शरण में जाकर इस भ्रान्ति का उपचार कराना चाहता है, तब वे सद्गुरु उपदेश कर जीव भ्रान्ति को दूर करते हैं । जिसके फलस्वरूप इस जीव को अपने अनादिकाल के भूले स्वरूप की याद जाग्रत हो जीवन मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है ।

यदि प्रवृत्ति के समय पुनः देहभाव जाग्रत हो जाने पर भी विश्राम के समय यह ख्याल आ जाता है कि मैं यह सविकल्प दृश्य रूप देह संघात् नहीं, किन्तु मैं निर्विकल्प, द्रष्टा, साक्षी ब्रह्म ही हूँ । देहाभिमान के कारण ही आज तक मैं ससार में कष्ट उठा रहा था किन्तु अब मैं इसमें अहं बुद्धि नहीं करूँगा ।

ब्रह्म-विद्या अन्य विद्याओं की तरह नाशवान् नहीं है । एकबार मैं ब्रह्म हूँ ऐसा दृढ़ बोध हो गया तब २+२ का योग ५ या ३ कभी नहीं होता है । इसी प्रकार भली प्रकार अपने आत्म स्वरूप को जानने पर मैं देह हूँ ऐसा भ्रम भी नहीं हो सकता । एकबार भली प्रकार ज्ञानाग्नि जिस अन्तःकरण में प्रज्वलित हो गयी कि मैं द्रष्टा साक्षी हूँ, फिर वह अग्नि किसी अवस्था में भी नहीं बुझ सकेगी । वेदान्ती गुरुजनों का सत्संग करने से वेदान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से ब्रह्मनिष्ठा के फलस्वरूप अनायास ही देहभाव गिरता चला जाता है ।

हे आत्मन् ! ''अहं ब्रह्मास्मि'' रूप शुद्ध अहंकार साक्षात् निर्विकल्प ही है । फिर भी प्रारब्धवश प्रवृत्तिकाल में देहात्म बुद्धि का उदय हो जावे तो भी वह बंधन रूप नहीं बन सकेगी । क्योंकि लौकिक व्यवहार में ऐसा हो जाने पर भी अन्तर से तो वह जानता ही रहता है कि मैं ऐसा नहीं हूँ जैसा अभिमान दिखा रहा हूँ ।

दो दृष्टियाँ होती है एक लौकिक तथा दूसरी शास्त्रिय । लौकिक दृष्टि से व्यवहारकाल में जीव, मैं देखता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं ग्रहण-त्याग करता हूँ । ऐसा मिथ्या अभिमान करता-सा प्रतीत होता है, किन्तु वह भीतर से अपने को समस्त क्रियाओं का द्रष्टा ही जानता है । अपने शुद्ध अहं को इस मलिन अहं में मिलने नहीं देता । बहुरूपिया जैसे अपने व्यवहारिक नाम अहं नाम जाति अहं को दिखावटी नकली अहं को डॉक्टर, रेल्वे गार्ड, पोलिस सुप्रिन्टेन्डेट आदि झूठे अहं में मिलने नहीं देता बल्कि वह उन सबसे अलग ही यथावत् जानता है । इसी प्रकार सविकल्पावस्था में भी ज्ञानी अपने निर्विकल्प स्वरूप को यथावत् जानता रहता है । सविकल्प में निर्विकल्प और निर्विकल्प में सविकल्प कभी भी मिश्रीत होने वाला नहीं है, क्योंकि सविकल्प निर्विकल्प दो पदार्थ नहीं है, और ऐसा विवेक होना ही चिद्-जड़ ग्रन्थी का छेदन अर्थात् खुल जाना है ।

हे आत्मन् ! चिद्-जड़ ग्रन्थि का नाश होने के बाद भी व्यवहार में देहादिक क्रियाओं में 'हूँ पना', 'मैं पना' उठता रहता है, तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं । क्योंकि अन्दर से तो वह जानता ही है कि मैं केवल सविकल्प का साक्षी निर्विकल्प आत्मब्रह्म हूँ । केवल व्यवहारकाल में ही जीव भाव रख वह समस्त व्यवहार करता हुआ-सा प्रतीत होता रहता है । किन्तु उन कर्मों में उसी प्रकार वह अहंकार नहीं करता है जैसे जल्लाद फांसी देकर उस क्रिया में यह अहंकार नहीं करता कि मैंने उसे फांसी दी । बल्कि अन्दर से तो जानता है कि मैंने उच्चाधिकारी मजिस्टेट की आज्ञा पालन किया है । इसलिये बदले में उसे पुरस्कार भी प्राप्त होता है । इसी प्रकार तत्त्व ज्ञानी खाते-पीते, सोते-जगते, ग्रहण-त्यागादि समस्त क्रिया होते हुए भी-

'' नैव किंचित् करोमिति मन्यते तत्त्ववित्''

सविकल्प देह संघात के कार्य, देह साक्षी निर्विकल्प आत्मा में आरोपित नहीं करता है । तथा आत्मा के स्वभाव का अनात्मा देह में आरोपण नहीं करता है । वह चिदात्मा का धर्म चिदाभास में नहीं देखता एवं चिदाभास का धर्म चिदात्मा में नहीं देखता है । इस प्रकार दोनों अभिमान करने पर भी ज्ञानी को देहादिक क्रियाएँ बन्धन रूप नहीं होती है, क्योंकि एक अभिमान मुख्य एवं सत्य है दूसरा अभिमान अमुख्य एवं असत् है ।

जिस अज्ञानी को यही पता नहीं है कि यह शरीर समुदाय क्या है, और मैं कौन हूँ ? ऐसे अज्ञानीजन द्रष्टापन का या अकर्तापन का कुछ भी अहंकार क्यों न करे उनके लिये बंधन रूप ही है, ज्ञानीजनों द्वारा व्यवहारकाल में अभिमान पूर्वक कर्म होते हुए दिखने पर भी वह अमुख्य ही है । अज्ञानी के द्वारा वही क्रिया अहंकार रूप इसलिये है कि जब से होश आया है उन्होंने अपने को देहादि संघात् रूप ही मान रखा है । इसी कारण से जीव को उसका यह मिथ्या अभिमान ही संसार बन्धन में बर्बस डाल देता है । इस प्रकार का देह अभिमान ज्ञानी को किसी भी अवस्था में कभी भी नहीं होता है । वह तो

सदा ही अपने को देह संघात् का साक्षी, द्रष्टा, आत्मा, निर्विकल्प, ब्रह्म ही निरन्तर चिन्तन करता है ।

जीव को अपने बिम्ब स्वरूप निर्विकल्प का अभिमान नियमित करते ही रहना चाहिये कि मैं ब्रह्म हूँ । देहादि संघात् का कार्य होने तथा न होने से मेरा कुछ भी घटता-बढ़ता नहीं है, ऐसा मन में निश्चय रखना चाहिये । बस इतना ही स्मरण रहे कि बाहर से ही मैं पना है वास्तव में तो मैं इन सब का साक्षी ही हूँ ऐसा जानता रहता है । यदि कोई अपने को वास्तव में ही कर्मों का कर्ता मान लेता है तो बन्धन का हेतु हो जावेगा । अनजान में देहादि में मैं पना हो जावे तो, पैर में लगे कांटे या आंख में गिरी किरकिरी की तरह मुमुक्षु को तुरन्त निकालकर ही विश्राम लेना चाहिये । यदि निश्चय से अपना असंगपना, निर्विकल्पना, द्रष्टापना कभी नहीं भुलाता है तो फिर भले ही व्यवहारकाल में देह संघात् में मैं पना का अभिनय कर दिया जावे तो भी किंचित् भी बन्धन रूप नहीं होता ।

यस्य नाहं कृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

गीता १८/१७

ज्ञानी अज्ञानी सभी का सर्वदा निर्विकल्पता ज्यों की त्यों एक रस ही बनी रहती है । अहंकार का विषय कुछ भी हो किन्तु अहंकारी तो एक ही है । वह तो जन्म से मृत्यु तक ज्यों का त्यों एक रस ही है । दृश्य वृत्ति, वस्तु, व्यक्ति बदले रहते हैं किन्तु उन सबको देखने वाला तो किंचित् भी नहीं बदला है । हे आत्मन् ! तू पहले से ही सब व्यवहार के होने पर भी निर्विकल्प रूप से ही बना रहता है । तेरे में कभी देहादि सविकल्पता उदय ही नहीं हुई । फिर भी मैं देहादि संघात् एवं उनके धर्म वाला जीव हूँ ऐसी मिथ्या भ्रान्ति हो गई है । उसका त्याग करके निर्विकल्पता अर्थात् द्रष्टा, साक्षी, आत्मभाव में स्थित होकर सुख से विचरण कर ।

प्रश्न-२७ : सविकल्प तथा निर्विकल्प दिन रात जैसे भिन्न प्रतीत होते है तब इनका प्रकाशक निराकार, निर्विकार, एक रस, ब्रह्म तत्त्व कैसे कहा जाता है ?

उत्तर : 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस प्रकार के सहस्त्रों प्रमाण एक अखंड सर्व व्यापक सत्ता को सिद्ध करते है फिर उसको मान लेने में क्या आपत्ति है ?

हे आत्मन् ! ऐसा विचार करो कि जिन आँखों ने अन्धकार देखा, उन्हीं आँखों ने प्रकाश को देखा है । इस प्रकार यहाँ अन्धकार देखने वाला एवं प्रकाश देखने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं है, बल्कि एक ही द्रष्टा है । इसी प्रकार जिसे सुषुप्ति, समाधि आदि अवस्थाओं में सविकल्पता का लय ज्ञात होता है उसे ही जाग्रत, स्वप्न आदि व्यवहार काल में विकल्पों के उत्थान का पता चलता है । जो तू लय का साक्षी है वही तू उत्थान का भी साक्षी है । वृत्ति शून्य का जानने वाला जो तू निर्विकार ब्रह्म है, वही तू वृत्ति जाग्रतकाल को जानने वाला निर्विकार ब्रह्म है । वृत्ति उठने से तुझ साक्षी द्रष्टा आत्म ब्रह्म में विकार आने का कोई हेतु ही नहीं । जैसे वृत्ति के लय को तू निर्विकार हुआ देखता, जानता रहता है, उसी प्रकार वृत्ति के उत्थानकाल सविकल्प दशा को भी उसी प्रकार जानता रहता है । शून्यता, लयता को जानने वाला निर्विकार ब्रह्मात्मा विकार को जानने से विकारी कैसे हो सकेगा ? शून्य, लय, अभाव तथा शांत दशा को जानने वाला ज्ञान, क्या वृत्ति की चंचलता को जानने से अन्य प्रकार का हो सकेगा ? ब्राह्मण को जानने, देखने वाली आँख क्या शुद्र या पशु को देखने से अन्यथा परिणाम को प्राप्त हो जाती है ? या जैसी की तैसी शुद्ध ही बनी रहती है ?

इसी प्रकार ज्ञान की एक रूपता ही सिद्ध होती है; क्योंकि ब्रह्म अद्वितीय है । इसलिये विकारी परिणामी कभी नहीं हो सकता । अखंड, एक रस ज्ञान चाहे वृत्ति को जाने, चाहे वृत्ति के लय को जाने उसके ज्ञान स्वरूप

में, द्रष्टा स्वरूप में कोई विकार नहीं होता है । मन, बुद्धि द्वारा जाग्रत में जो व्यावहारिक सृष्टि, स्वप्न में जो प्रातभासिक सृष्टि कल्पित होती है तथा सुषुप्ति के लय काल को जो एक चैतन्य जानता है वही तू आत्म ब्रह्म है । यही आत्म ज्ञान है ।

ज्ञान एक रूप है । जैसे घर में दीपक के प्रकाश के कारण पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न पदार्थ दिखने से भी आँख में भेद उत्पन्न नहीं होता । देखने की प्रक्रिया तो सब भावाभाव पदार्थों की एक-सी ही है । उसी प्रकार वृत्ति के कारण मन कल्पित सृष्टि में भेद देखने में आता है । इस प्रकार वृत्ति के उत्थान तथा लय को जानने वाले साक्षी की दृष्टि एक रस ही रहती है । उसके ज्ञान स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है । इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण करने पर एवं सुषुप्ति में ग्रहण न करने का भेद होने पर भी ज्ञान का देखना तो एक जैसा ही बना रहता है ।

हे आत्मन् ! आँख को मंद अन्धकार के कारण पुस्तक पढ़ने में असुविधा होती है एवं दीपक या चश्मा लगाने से स्पष्ट दिखने लगता है । बस इतना ही स्पष्ट तथा अस्पष्ट दिखने का भेद होता है । परन्तु आँखों के देखने के धर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता । वह तो एक रस दृष्टिपात करती ही रहती है । उसी प्रकार वृत्ति से लेकर इन्द्रियों द्वारा विषयों के ग्रहण होने तक एक निर्विकार ज्ञान ही जानता रहता है तथा सुषुप्ति में वृत्ति अभाव एवं विषयों के अग्रहण को भी वही ज्ञान ज्यों का त्यों जानता रहता है ।

अब " यह घड़ी है" इस प्रकार के विशेष ज्ञान में जीव का उपयोग आत्मारूपी आँख पर लगे चश्मे के तुल्य है । क्योंकि वस्तु का विशेष ज्ञान करने में अन्त:करण उपयोगी है । किन्तु सामान्य ज्ञान करने के लिये अन्त:करण का कोई उपयोग नहीं है । जैसे चश्मे का उपयोग पढ़ने जानने के लिये नहीं है अपितु अक्षर को स्पष्ट बड़ा करने के लिये है । देखने जानने का कार्य तो नेत्र का ही होता है । उसी प्रकार जीव विषयों को स्पष्ट दिखाने के लिये आँख पर

लगे चश्मे की तरह है । किन्तु जानने के लिये वस्तु ज्ञान करने के लिये जीव का उपयोग नहीं है, क्योंकि जीव स्वयं जड़ है । जानना या ज्ञान तो चेतन आत्मा का ही स्वभाव है ।

हे आत्मन् ! चश्मे द्वारा या दीप प्रकाश द्वारा कुछ भी विषय अथवा शास्त्र को देखा अथवा पढ़ा जावे, तो उससे आँख के देखने के धर्म में क्या विकार आ सकता है ? आँख का देखना तो हर अवस्था में एक जैसा ही बना रहता है । उसी प्रकार वृत्ति और मनादि के संकल्प में स्फूरण रूप जीव प्रकाशित होता है । उसी के कारण इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण होता है, किन्तु किसी भी विषय के होने न होने पर अनुभव ज्ञान एक रस ही बना रहता है । वृत्ति के लय को जो जानता है, वही वृत्ति उठने पर उसके कार्य को जानता है । फिर भले वह जानना आँख बंद करके हो या खुली आँखों का हो, किन्तु इनको जानने वाला ज्ञान एक रूप ही सर्वदा बना रहता है । वृत्ति के उठते-बैठते रहने से चैतन्यता घटती-बढ़ती नहीं है । फिर वह वृत्ति लयता को प्राप्त करे या उत्पन्न हो जावे, किन्तु उसके जानने वाले प्रकाशक निर्विकल्प ज्ञान ब्रह्म में कोई कृत्रिमता नहीं आती, वह अकृत्रिम ही है ।

इस प्रकार सब जीवों में निर्विकल्प दशा सहज परिपूर्ण है इस शुद्ध बोध के बाद चाहे सविकल्पता उठे या लोप हो जावे । ''मैं ब्रह्म हूँ'' यह अभिमान की वृत्ति हो तो भले हो ? देह के व्यापार धन्धे क्यों न हो ? जो मैं निर्विकल्प परिपूर्ण हूँ वह मैं किसी भी व्यवहार दशा में सविकल्प नहीं होता है । बस इतना स्मरण ही मुमुक्षु के लिये साधन रूप में कर्तव्य है, अन्य सभी साधन गधे पर रखा बोझा ढोने मात्र है ।

प्रश्न २८ : सविकल्प ठोस जगत् को अध्यस्त एवं निराकार निर्विकल्प बह्म को अधिष्ठान कैसे कहा जाता है ?

उत्तर : जिसके सहारे सविकल्प प्रतीत होता है वह निर्विकल्प अधिष्ठान स्वरूप है । निर्विकल्प चिदाकाश समस्त सविकल्प में व्यापक

होने से अपरोक्ष है । जैसे घड़ा मकान में रखा होने से मठाकाश के पेट में है । उसी प्रकार घट तथा मठ में भी आकाश है । यह समस्त जगत् सविकल्प है । पानी पर तरंग एवं तरंग रूप में पानी है । इसी प्रकार सविकल्प में ब्रह्म है । इस प्रकार जगत् में परिपूर्ण निर्विकल्प अनन्त ब्रह्म है और अनन्त ब्रह्म में सर्व जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है । सविकल्प उत्पन्न होते ही उसके भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे निर्विकार ब्रह्म व्याप रहा है । इतना ही नहीं सविकल्प जहाँ तक रहता है वहाँ तक उसकी सर्व तरफ निर्विकल्प ब्रह्म ही व्याप्त रहता है । इस प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प में नाम मात्र का भेद है । तत्त्व दृष्टि से किंचित् भी भेद नहीं है । नाम रूप अध्यस्त जगत् की अधिष्ठान अस्ति-भाति-प्रिय ब्रह्म से पृथक् सत्ता ही कहाँ है । सविकल्प जगत् में ब्रह्म का अहं पना है ।

ब्रह्म के चिद्पने से यह जड़ जगत् भासित होता है एवं आनन्दपने से यह जगत् के पदार्थ प्रिय लगने हैं । इस प्रकार नाम रूप सविकल्प जगत् में अस्ति, भाति, प्रियता के सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही विवर्त है । यदि अधिष्ठान ब्रह्म को छोड़ जगत् देखा जावे तो सविकल्प सत्ताहीन भासित होने लगेगा । इसलिये सविकल्प निर्विकल्प से भिन्न नहीं किन्तु एक रूप ही है । जैसे रस्सी से पृथक् सर्प का, सीप से पृथक् रजत का, ठूंठ से पृथक् पुरुष का, द्रष्टा से पृथक् स्वप्न का अन्य कोई रूप नहीं है । उसी प्रकार अस्ति, भाति, प्रिय अधिष्ठान आत्मा ब्रह्म से नाम रूप जगत् की पृथक् सत्ता ही नहीं है ।

हे आत्मन् ! जैसे मिट्टी के बिना घड़े का, स्वर्ण के बिना अलंकार का तथा रूई के बिना सूत्र या वस्त्र का, कोई अस्तित्त्व ही नहीं हो सकता है ? अथवा पानी के बिना तरंग नहीं, स्वर्ण के बिना अलंकार नहीं, आकाश के बिना मेघ नहीं, उसी प्रकार निर्विकल्प के बिना यह दृश्यमान साक्षात् जगत् नहीं है । जैसे रस्सी में सर्प की, मिट्टी में घड़े की, स्वर्ण मे अलंकार की कल्पना करना व्यर्थ वाणी का विकार मात्र है, सत्य तो रस्सी,मिट्टी, स्वर्णमात्र

ही है । सर्प, घड़ा, अलंकार तो प्रतीति मात्र कल्पित है ।

नाम रूप माया का कार्य होने से असत् है । यदि नाम रूप का विवेक द्वारा जगत् से बाध कर दिया जावे तो एक मात्र सत् ब्रह्म ही शेष रहता है । जैसे जल में तरंग नहीं है, जल ही है । उसी प्रकार जगत में सविकल्प नहीं निर्विकल्प ही है । दीपक, घट, इँट को यदि तत्त्व दृष्टि से देखे तो केवल मिट्टी ही भासित होती है, घटादि कार्य प्रतीत नहीं होते हैं । उसी प्रकार सविकल्प रूप जगत् को यदि तत्त्व दृष्टि से देखा जावे तो एक मात्र निर्विकल्प ब्रह्म ही अनुभव में आता है सविकल्प रूप जगत् किंचित् भी भासित नहीं होता । इस प्रकार विचार द्वारा नाम रूप का त्याग करने से सर्व अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म रूप ही है । फिर स्थावर जगंम सृष्टि कहाँ ? फिर ब्रह्मा, विष्णु, शंकर कहाँ ? केवल एक मात्र अविनाशी निर्विकल्प आत्मा ही सब ओर विलास कर रहा है ऐसा निश्चय वाला सब प्रवृत्ति में समाधिस्थ ही है ।

प्रश्न २१ : कोई अज्ञानी अपने को न जानते हुए केवल विकल्पों का निरोध करता रहे तो क्या परिणाम होगा ?

उत्तर : अपने आपका विस्मरण ही संसार बन्धन का हेतु एवं मोक्ष में बाधा है । अर्थात् अपने आपका जिसे अज्ञान हुआ है, उसके द्वारा कोई भी कार्य सम्यक् नहीं हो सकेगा । वह अज्ञान से दृश्य शरीर प्राण, इन्द्रिय तथा मनादि को ही मैं मान कर दृढ़ बंधन में पड़ता है । देहाभिमानी अज्ञानी पुरुष को अपना व अन्य का नाम, रूप, सत्य ही लगता है । फिर मैं-मेरा, अच्छा-बुरा इस अभिमान के कारण काम, क्राध, लोभ, मोहादि शत्रु उसके मन, बुद्धि में घर करके बैठ जाते हैं । इसलिये उसे इन्हीं विकल्पों को निदिध्यासन रूप अभ्यास द्वारा निरोध करना चाहिये । इन विजातीय वृत्तियों का याने अनात्माकार वृत्तियों का जब साधक दृढ़ता से निरोध करेगा तभी वह सुख रूपता को प्राप्त कर सकेगा ।

अज्ञान बीज जब तक अन्त:करण में विद्यमान है, तब तक इन

देहादिक अनात्म विकल्पों का निरोध (तिरस्कार) किया जाय तो भी ये समूल नष्ट नहीं होते हैं । अस्तु अपने आपका विस्मरण कराने वाली मूल अविद्या को जड़ा-मूल से खोद, निकाल फेंके । तब आत्मभाव का बीजारोपण कर उसे श्रद्धा प्रेम के जल से सिंचन करते हुए एकान्तिक मेड़ लगावें ।

अज्ञान को समूल नष्ट करने के दो ही उपाय है एक विचार तथा दूसरा अभ्यास । विचार से लय साक्षी पद को पहचानना कि वह कौन है जो समस्त वृत्ति के उत्थान तथा लय को जानता है ? तथा अभ्यास द्वारा सोऽहम्, सोऽहम् का निश्चय करना अर्थात् वह लय साक्षी मैं ही हूँ । २+२ चार का दृढ़ अभ्यास होने पर कभी ३ या ५ नहीं होता उसी प्रकार " मैं ही वह हूँ", " अहं ब्रह्मास्मि", "शिवोऽहम्" का दृढ़ बोध होने पर फिर मैं देह हूँ इस प्रकार का न विकल्प उठेगा और न लय साक्षी पद की विस्मृति हो सकेगी । इस अभ्यास के कारण स्फूरण से लेकर देह पर्यन्त किसी भी अंग, क्रिया तथा वृत्ति में सत्यत्व बुद्धि नहीं होती है । जब देह में अहं नहीं उठेगा तब देहादिक में मेरा पना तो उठेगा ही कैसे ? फिर काम, क्रोध, मोह, लोभादि शत्रु अन्तःकरण में जन्म ही किसके लिये एवं कैसे ले सकेंगे ? जब कामादिक नहीं उठेंगे तो विकल्पों का अपने आप निरोध हो गया ।

हे आत्मन् ! स्मरण रूप अभ्यास के दो नाम है एक दृश्यानुविद्ध तथा दूसरा शब्दानुविद्ध । दृश्य को देखते हुए उनके नाम रूप का स्फूरण न हो, न उनमें सत्यत्वबुद्धि हो, बल्कि अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्मरूपता की ही सत्यता भासित होती रहे । यह दृश्यानुविद्ध समाधि का स्वरूप है ।

स्फूर्ति से समस्त वृत्तियाँ, इन्द्रियाँ, प्राण देह एवं विषयादि उत्पन्न होने पर भी मैं उनसे अलग, असंग, निर्विकार, द्रष्टा, साक्षी, ब्रह्मात्मा हूँ ऐसा जानना शब्दानुविद्ध समाधि है ।

वायु से जैसे आकाश चलित नहीं होता, उसी प्रकार मैं चिदाकाश भी चंचल, विकारी वृत्तियों के स्पर्श से चंचल नहीं होता । इस प्रकार की

अचल दृढ़ निष्ठा शब्दानुविद्ध समाधि से दृढ़ होती है ।

अनेक प्रकार के शब्दों को मन में स्थान न दे, बल्कि सभी शब्दों के भेद को छोड़ ''सोऽहम्'' ब्रह्मात्मा का ही स्मरण करता रहे । इस प्रकार वैराग्य एवं अभ्यास के फलस्वरूप शब्दानुविद्ध और दृश्यानुविद्ध दो प्रकार की समाधि सुदृढ़ होती है । साधक को प्रथम लय साक्षी ज्ञान की जरूरत है और उसके बाद साथ-साथ सोऽहम् रूप स्वरूप स्मरण का अभ्यास होना चाहिये ।

केवल वृत्ति निरोध, विकल्प निरोध करने से जीव दु:खों की आत्यान्तिक निवृत्ति तथा परमानंद की प्राप्ति रूप मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं कर सकता । उसके लिये तो सर्वत्र एक रूप, अखंड, ब्रह्मात्म दृष्टि उदय होने की जरूरत है और वह दृष्टि गुरु कृपा बिना अन्य साधन से सम्भव भी नहीं वे ही दिव्य चक्षु प्रदाता है ।

प्रश्न ३०: ज्ञानियों को कौन सी समाधि प्रिय है ?

उत्तर : स्थूल देह चाहे जैसा व्यवहार करता हो एवं सूक्ष्म देह चाहे जैसा विचार करता हो, किन्तु उन सभी विचार एवं दृश्यों में नाम रूप की सत्यता उठने नहीं देते हैं । उन्हें समस्त भेदों में केवल एक रस ब्रह्म आत्मा का ही स्मरण होता रहता है । दृश्यों भेद देख उन्हें बाहर-भीतर किसी भी प्रकार अन्य निश्चय होता ही नहीं । यह अवस्था निदिध्यासन रूप सविकल्प समाधि के दृढ़ अभ्यास से ही प्राप्त होती है । ब्रह्मभाव दृढ़ करने के लिये संकल्पों का निरोध करने की आवश्यकता नहीं, एवं दृश्य का नाश करने को भी जरूरत नहीं । मात्र संकल्पों में एवं दृश्यों में एक ब्रह्म को ही देखते हैं । इसलिये उन्हें दृश्य में दृश्य भाव एवं शब्द में शब्द भाव उत्पन्न नहीं होता है । ज्ञानी किसी भी अवस्था में क्यों न रहे वह अपने को एक मात्र ब्रह्मात्मा ही जानते हैं ।

सर्व क्रिया पूर्ववत् होते हुए भी ज्ञानी के निश्चय से सबके नाम रूप की सत्यता बुद्धि चली जाती है । भेद दर्शन में भी एक रूपता ही भासित होती है । ऐसी सहज समाधि ज्ञानियों को प्रिय होती है । सहज समाधि को छोड़कर, वृत्ति निरोध कर वृक्ष, पाषाणवत् जड़ हो पड़े रहने वाली हठ समाधि ज्ञानियों को प्रिय नहीं है । फिर देह उपाधि पर्यन्त किसी को ऐसी जड़ समाधि सब समय के लिये सिद्ध भी नहीं हो पाती है । अस्तु हठ योग वाली जड़ समाधि की इच्छा न करें । क्षणभर के लिये अपने वृत्ति का बाह्य विषय चिन्तन रोक यह विचार करें कि समस्त वृत्ति के लय को जो जानने वाला है " वह मैं हूँ" इस प्रकार समस्त दृश्यों में सर्व अधिष्ठान निजात्म स्वरूप का दृढ़ निश्चय करना चाहिये । ताकि किसी अवस्था में द्वैत भाव ही न उठने पावे । यहि समस्त वृत्तियों का निरोध समझना चाहिये ।

कार्य को कारण रूप देखते हुए नाम रूप कार्य को कारण में लय करना ही निरोध या लयावस्था कहाती है । जो नाम रूप प्रथम ही उत्पन्न नहीं हुए थे, किन्तु रज्जु में सर्पवत् अन उत्पन्न हुए भी प्रतीत होते है । तथा प्रकाश से रस्सी पर कल्पित प्रतीत होने वाले सर्प लुप्त होने की तरह ज्ञान से समस्त कल्पित भेद दूर कर सर्वत्र अधिष्ठान ब्रह्म रूप देखना ही वास्तविक निरोध है ।

विचार से देखा जावे तो एक अस्ति, भाति, प्रिय बह्म से पृथक् नाम रूप कुछ उत्पन्न ही नहीं हुए । जो कुछ 'है', वह ब्रह्म ही सद्रूप है । जो 'दिखाई' पड़ता है, वह ब्रह्म ही चिद्रूप है, एवं जो कुछ 'प्रिय' लगता है, वह ब्रह्म ही आनन्द रूप है । इस प्रकार समस्त दृश्य क्या है ? "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" । निर्विकल्प ब्रह्म ही है । अलंकार बना हो या टूटा, मूल अधिष्ठान स्वर्ण ज्यों का त्यों एक रस ही विद्यमान है । इसी प्रकार अद्वितीय अखंड एकरस ब्रह्म पर नाम रूप दृश्य जगत् कल्पित होने के कारण ब्रह्म सृष्टि में भेद कैसे उत्पन्न करा सकते हैं ? भेद हो ही नहीं सकता । क्योंकि वेद कहता है

यहाँ " सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इसीलिये नाना नाम रूप होते हुए भी एक रूप ब्रह्म ही है । इस प्रकार चाहे जो दृश्य एवं शब्द बाहर भीतर उठे, मिटे किन्तु निश्चय में एक अद्वैत पूर्ण ब्रह्मात्मा ही है, इसी को ज्ञानी सहज समाधि कहते हैं । ज्ञानियों को यह समाधि अतिशय प्रिय है ।

हे आत्मन् ! अन्त:करण की प्रथम स्फूरणा एवं मन, बुद्धि आदि वृत्तियाँ उत्पन्न हो, इन्द्रियों द्वारा समस्त विषय ग्रहण करें अथवा वे निर्विकल्प में लीन हो जाए, किन्तु ज्ञानियों की सहज समाधि अखंड ही रहती है ।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥

गीता ५/८

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

गीता ५/९

हे अर्जुन ! तत्त्व को जानने वाला सांख्य योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वाँस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और मूंदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने अपने अर्थों में बर्त रही है इस प्रकार समझता हुआ नि:सन्देह ऐसे माने कि (मैं) कुछ भी नहीं करता हूँ ।

मन, बुद्धि अन्तर में विचरण करे, स्वप्न भास को उत्पन्न करे, या इन्द्रियाँ बाहर आकर विषयों में क्रीड़ा करें किन्तु स्थित प्रज्ञ ज्ञानी की सहज समाधि भंग नहीं होती है । चाहे आशातीत भोग प्राप्त हो, उसके आवश्यक कार्य चाहे नष्ट हो किन्तु उसकी सहज समाधि अखंड ही रहती है ।

ज्ञानी निश्चेष्ट होकर पड़ा रहे या व्यापार करे, उपवासी रहे या

यथेष्ट खावे, बोलता रहे या मौन रहे, एकान्त में रहे या समुदाय में रहे, चलता हो या बैठा हो, हंसे या रोवे, उपदेश दे या गालियाँ दे, देवार्चन करता हो या मूर्ति तोड़ कूवे में फेंकता हो या समाधिस्थ हो तब भी उसकी सहज समाधि भंग नहीं होती है ।

हे आत्मन् ! ज्यादा क्या कहना, उस ज्ञान योगी के प्रारब्ध से जो-जो बनने का हो वह बने, जो सुख-दुःख मिलना-भोगना हो वह मिले-भोगे, किन्तु उसकी सहज समाधि अखंड़ ही रहती है । उस ज्ञानी की चाहे कोई श्रद्धालु पूजा करे, चाहे कोई उसे कष्ट दे, स्तुति करे या निन्दा करे किन्तु सभी अवस्थाओं में उसकी ब्रह्मात्म रूप सहज समाधि खंडित नहीं होती ।

इस ज्ञान योगी द्वारा लोक निन्दा हो या स्तुति, यह गृहस्थ हो या सन्यासी रहे, यह मेरा यह तेरा ऐसा भी वह व्यवहारकाल में भेद करता हुआ क्यों न प्रतीत हो, तो भी उसकी समाधि अखंड ही रहती है । उसे चाहे विष्णु अपने विमान में बिठा वैकुंठ ले जावे चाहे वह चाण्डाल के घर पर पड़ा हो । संक्षेप में इतना ही समझे कि उस ज्ञान योगी द्वारा चाहे जैसा व्यवहार क्यों न हो, फिर भी उसकी सहज समाधि खंडित नहीं होती । समस्त दृश्य व्यवहार होते हुए भी बुद्धि में नाम रूप की सत्यता उदय न हो, केवल एक ब्रह्म दर्शन रूप सहज समाधि ही ज्ञानियों को प्रिय है ।

प्रश्न ३९ : ज्ञानियों को कौनसी समाधि अप्रिय होती है ?

उत्तर : जो ब्रह्मरन्ध्र में प्राण वायु का निरोध करने से समाधि होती है, वह हठ योग की समाधि है । यह समाधि नहीं किन्तु इसे दीर्घ निद्रा ही समझना चाहिये । ऐसे साधक को योगी नहीं किन्तु स्वरूप वियोगी ही मानना चाहिये और ऐसे स्वरूप वियोगी को ज्ञानियों वाली सहज समाधि अप्रिय है । कोई अघोर क्रिया के करने वाले साधक अपने को योगी मानते हैं । कोई वेश धारण करके अपने को योगी मानते हैं । कोई मंत्र-तंत्र के भेदों को लेकर योगी बनते हैं । कोई मुद्रा करते हैं । कोई धोती, नेति कर अपने को

योगी मानते हैं, किन्तु ज्ञानीजन उपरोक्त क्रिया करने वालों को सच्चा योगी नहीं मानते हैं ऐसे योगियों को ज्ञानियों की सहज समाधि अप्रिय होती है ।

कोई प्राणायाम क्रिया द्वारा द्विदल पर्यन्त गमन करते हैं । वह समाधि एक काल तक रहती है । इसीलिये ज्ञानियों को ऐसी क्षणिक समाधि अप्रिय होती है । कोई प्राण वायु को रोककर कल्प पर्यन्त शून्यावस्था में पड़े रहते हैं, वह वास्तविक समाधि नहीं है किन्तु दीर्घ निद्रा मात्र ही है । ऐसी समाधि ज्ञानियों को अप्रिय है ।

कोई षट् चक्रों में से किसी चक्र पर एकाग्रता साधते हैं । कोई एक-एक कमल में देवता का ध्यान करते हैं । कोई श्वाँस प्रश्वाँस में बिना विचारे केवल सोऽहम् का जाप करते हैं ऐसी समाधि ज्ञानियों को अप्रिय है ।

कोई दस नाद में से किसी नाद में निमग्न होते हैं । कोई हृदय में अष्ट दल कमल की कल्पना कर उसमें अपने कल्पित देवता को स्थापित कर कल्पित सामग्री से उस देव की पूजा करते हैं । यह समाधि ज्ञानियों को अप्रिय है । कोई अपने समक्ष मूर्ति रख मानसिक पूजा करते हैं और चित्त एकाग्रता की साधना करते है । कोई भ्रुकुटि के मध्य भाग में दृष्टि करके अन्तर में लक्ष रखते हैं कोई खेचरी मुद्रा करते हैं । ज्ञानियों को यह सब पाखंड अप्रिय हैं ।

कोई पलकों को हिलाकर दोनों आँखों के डोलों को भ्रुकृटि मध्य में लाकर देखते हैं । उसे चांचरी मुद्रा कहते हैं जो ज्ञानियों को अप्रिय है ।

कोई प्रकाश को देखते हैं । कोई आँख, कान, नाक, द्वार बंद करके षण्मुखी मुद्रा करते हैं । कोई आँख को बंद करके बैठते हैं, कोई आसन करते हैं, कोई नेति, धोती, क्रिया करते हैं । यह कष्टप्रद साधन ज्ञानियों को अप्रिय है ।

ज्ञानियों को सहज समाधि प्राप्त होने से उन्हें उपरोक्त सभी कष्ट प्रद

समाधि प्रिय नहीं होती है । साक्षी को जानने के बाद वृत्ति निरोध कर बैठना ज्ञानियों को अनावश्यक ही प्रतीत होता है । नाम रूप जगत् अज्ञान अवस्था वत् दिखाई पड़े या लुप्त हो जावे किन्तु उन्हें सब मृगजल की तरह मिथ्या ही प्रतीत होती है और अस्ति, भाति, प्रिय आत्मा ही हर अवस्था में अनुभव में आती है । यह सहज अवस्था ज्ञानियों को प्रिय होती है । किंचित् भेद का सत्य रूप से निश्चय न होना ही समस्त निरोध का फल है ।

प्रश्न ३२ : वृत्ति निरोध बिना समाधि कैसे हो सकती है ?

उत्तर : एक सहज समाधि तो हर अवस्था में हो ही रही है । वृत्ति का उत्थान हो या लय हो, जाग्रत हो या समाधि हो, बुद्धि स्वप्नाकार हो या इन्द्रियों सहित जाग्रत हो किन्तु इन समस्त अवस्थओं में उनके विकार नाम, रूप को असत्य जान, एकमात्र अस्ति, भाति, प्रिय, अपने सच्चिदानंद स्वरूप का स्मरण करना ही सहज समाधि है । वृत्तियों का लय करना यह समाधि का तात्पर्य नहीं है । लय करने का लक्ष्यार्थ है नाम-रूप की सत्यता का बाध करते जाना ।

ध्यान रहे ! वृत्तियों का समूल लय होता भी नहीं एवं आवश्यकता भी नहीं । यदि समस्त वृत्तियों का लय कर भी दिया जावे तो जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव बिना वृत्ति के कैसे हो सकेगा ? क्योंकि सुख भोगने वाली सविकल्प वृत्ति का तो प्राण निरोध द्वारा नाश कर दिया एवं निर्विकल्पता का सुख निर्विकल्प स्वयं लेता नहीं । सुखानुभूति करने वाली तो सविकल्प अन्तःकरण की वृत्ति है । जब सविकल्प मन ही को मार दिया गया तो निर्विकल्प का सुख भोग एवं ज्ञान कौन करे ? सविकल्प मन को लय कर दिया तो फिर जीवन्मुक्ति सुख का भी लोप हो गया । फिर वृत्ति निरोध का फल शरीर, मन, प्राण को कष्ट देने के अलावा अन्य क्या हुआ ? कुछ भी नहीं । व्यर्थ मन को लय किया, क्योंकि आनंदता का अनुभव बिना वृत्ति के

होता नहीं ।

वृत्ति लय करके ज्ञानी बैठ जावे तो आगे ज्ञान परम्परा भी रुक जावेगी । फिर कौन किसे उपदेश कर सकेगा ? कारण यदि ज्ञानी मनोलय करके निर्विकल्प हो बैठे तब जिज्ञासु के प्रति उपदेश क्रिया कैसे होगी ? तब अन्य मुमुक्षुओं को ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकेगा ? जिस मुमुक्षु को ईश्वर या सद्गुरु कृपा से ज्ञान हो जावे एवं उसी समय वह वृत्ति निरोध कर बैठ जावे तो फिर किस प्रकार अन्य के उद्धारार्थ ज्ञान प्रकट हो सकेगा ?

यदि मन के निर्विकल्प होने मात्र से ही किसी को ज्ञानी माने तो बहुत विरोध खड़ा हो जावेगा । फिर जनक, राम, कृष्ण, शुकदेव को अज्ञानी ही कहना होगा; क्योंकि उन्होंने राज्य, युद्ध, उपदेशादि व्यवहार में भाग लिया था । याज्ञवल्क्य, शंकराचार्य आदि ने प्रवचन, मन्दिर एवं शास्त्र रचना की है । तब क्या ये अज्ञानी कहलावेंगे ? क्योंकि अज्ञानी के मत से वे अपने मन को निर्विकल्प बना कर शांत नहीं बैठ पाये थे । यदि वे ही अज्ञानी हुए तो आज तक का ज्ञान किससे प्राप्त हुआ ? तब तो श्रुति वचन में भी विरोध आवेगा क्योंकि " ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" कहा है । यदि क्रिया से ही निर्विकल्पता आ जावे तो फिर ज्ञान की जरूरत ही क्या होगी ?

अस्तु सब समय निर्विकल्पता बनी रहे ऐसी कल्पना भी नहीं करना चाहिये । पहले जो-जो आचार्य हुए हैं वे निर्विकल्प होकर चुप नहीं बैठे थे । सविकल्प वृत्ति को ही ज्ञान होने का है एवं उसी को ही यदि सुला दिया जावे तो फिर " यही आत्मा है" ऐसा निश्चय कौन करेगा ? वृत्ति को लय करके चुप बैठ जाने से लय साक्षी जानने में नहीं आता । लय साक्षी को जानने के लिये वृत्ति की जरूरत होती है । वृत्ति उत्पन्न हो, उसके बाद विचार करना चाहिये । विचार करने के लिये वृत्ति नहीं होगी तो लय साक्षी के होने का अनुमान किसे होगा ? सविकल्प मन के अलावा उसके अनुमान का करने वाला अन्य कोई नहीं है ।

अस्तु केवल निरोधावस्था से ब्रह्मानुभव नहीं होता । अनन्त जन्मों में दृढ़ी भूत हुई देहात्म बुद्धि, बारम्बार के आत्म चिन्तन के बिना नष्ट नहीं होती । जैसे देह बुद्धि दृढ़ हो चुकी है, उसी प्रकार आत्म बुद्धि दृढ करना चाहिये । ब्रह्म वृत्ति की आवृत्ति बारम्बार करते रहने से ही ज्ञान दृढ़ होता है । कोई योगी वृत्ति का पूर्णतया लय तीन काल में भी नहीं कर सकता है । आज तक न किसी से हुआ, न आगे हो सकेगा, तथा वृत्ति को लय करने की कोई न आवश्यकता ही है ।

हे आत्मन् ! वृत्ति का लय करके रात-दिन चुप होकर बैठ जाना ज्ञानी तथा अज्ञानी किसी के लिये सम्भव नहीं है । जैसे बांस के नले में से वायु बिना बहे नहीं रह पाती, उसी प्रकार स्फूर्ति वृत्ति उत्पन्न होने के बाद वह कभी भी स्थिर रहने की नहीं । मन, बुद्धि को प्राणायाम साधन द्वारा न उठने देंगे तो वे कुछ काल नहीं उठेंगी एवं जब प्राण क्रिया होने लगेगी तब वृत्तियाँ भी पुनः उठेंगी । यदि उनका फिर निरोध कर देंगे तो देह निर्वाह कैसे होगा ? जीवन हेतु प्राण क्रिया का चलते रहना परमावश्यक है । इस प्राण आवागमन की क्रिया से तो फिर भूख-प्यास लगेगी और वे प्राण मन को व्याकुल करेंगे और उसकी व्याकुलता से घबरा कर वह विकल्प रूप मन-बुद्धि पुन: उत्थान को प्राप्त होंगे । तब यदि बलपूर्वक प्राण निरोध कर उन्हें फिर बिठा दिया तो प्राणों का ही अन्त हो जावेगा । इस प्रकार हठ योग से बरवश प्राणों का निग्रह कर जीवन समाप्त कर दिया तो आत्म हत्या से अपना क्या भला किया ? वृत्ति का पूर्ण रूप से निरोध करने में कोई समर्थ नहीं, यदि कर भी लिया तो शरीर को कष्ट देकर पीड़ा प्राप्त करने के अलावा कुछ भी प्राप्त होना नहीं ।

पूर्व में याज्ञवल्क्य जनक, सनकादिक और वशिष्ठ दुर्वासा आदि संत हुए हैं किन्तु वे भी जड़ काष्ठ-पाषाण की तरह चुप न बैठे रहे । प्रारब्ध अनुसार जन समाज में, वन में, भवन में विचरते रहते थे । ज्ञानी की स्थिति

ज्ञानी ही जान सकता है । ज्ञानी को अज्ञानी नहीं जान सकता है । ज्ञानी निर्विकल्प होने की इच्छा नहीं करता किन्तु सब कुछ होते हुए दृढ़ ज्ञान से सब में आत्मब्रह्म का ही अनुभव करता रहता है । ज्ञानी का सविकल्प मन होने से भी उसे अज्ञानी नहीं कहा जा सकता । अज्ञानी का मन निर्विकल्प होने से भी उसे ज्ञानी नहीं कहा जा सकेगा ।

हे आत्मन् ! जो सर्वत्र समता का दर्शन करता है वही वास्तव में समदर्शी, पंडित, ज्ञानी यथार्थ दर्शी है । इसलिये जैसे पूर्व ज्ञानियों की रहनी, करनी रही, उसी प्रकार जीवन यात्रा प्रारम्भ रखना चाहिये । पहले के ज्ञानी निर्विकल्प होकर पत्थर की तरह पड़े नहीं रहते थे । जड़ भरत भी प्रारब्धानुसार अपनी आवश्यक प्रवृत्ति मन बुद्धि युक्त करता था । उसने राजा रहुगण को उपदेश भी किया । यदि वह निर्विकल्प होता तो उपदेश कैसे कर पाता ? ऊपर-ऊपर से लोगों से उदासीन होकर विचरता था, किन्तु अन्दर से पूर्ण चेतना थी । ज्ञानी अनेक नाम रूपों को देखता हुआ भी उनमें तत्त्व दृष्टि से भेदों का दर्शन नहीं करता है । उसकी वृत्ति नाना रूपों में केवल एक सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही दर्शन करती है । मन बुद्धि वृत्ति अपने इन्द्रिय द्वार से निकलकर विषय ग्रहण करे तब भी ज्ञानी नाम रूप का भेद मन में न लाकर एक सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही देखता है ।

प्रश्न-३३ : अपरोक्ष दृढ़ ज्ञानी की कैसी स्थिति रहती है ?

उत्तर : मन, बुद्धि अपने विषयाकार को प्राप्त हुई हो अथवा अकेली निर्विकल्प वृत्ति हो तब भी मैं उस वृत्ति को जानने वाला साक्षी आत्मा हूँ एवं वृत्ति मिथ्या है । ऐसा अपरोक्ष दृढ़ ज्ञान उसे सर्वदा स्मरण रहता है । मन में अच्छे या बुरे चित्र खींचते रहने पर भी मैं निर्विकार द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ इस निश्चय से वह नहीं हटता है । मेरे से पृथक् मन, बुद्धि, जीव, जगत् आदि उसी प्रकार मिथ्या एवं कल्पित दिखाई पड़ते हैं, जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी रस्सी पर सर्प नाम, रूप । इस प्रकार का बोध उसे बना रहना है ।

उसकी इन्द्रियों द्वारा शुभ अशुभ ग्रहण होने पर भी वह अपने को उनका साक्षी ब्रह्मात्मा ही जानता है । मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों तथा शब्द, स्पर्श, रूप आदि उनके समस्त नाम रूप विषयों की सत्ता को वह अपने स्वरूप आत्म अधिष्ठान से अलग नहीं देखता है । इसलिये जो है वह अस्ति, भाति, प्रिय रूप से एकमात्र ब्रह्म ही है । चाहे जो परिस्थिति हो वह अपने ब्रह्मत्व को कभी भी नहीं भूलता है । मन, बुद्धि, इन्द्रियादि को जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्ति हो । बाह्य प्रवृत्ति हो या अन्तर्मुखता रूप निवृत्ति अवस्था हो, परन्तु वे सभी मिथ्या है और मेरी ब्रह्मात्मता सत्य है ऐसा सदेव उसे स्मरण बना रहता है । चाहे विक्षेप हो, चाहे समाधि, चाहे मूर्च्छा हो या मृत्यु । चाहे आधि हो या व्याधि । सभी अवस्थाओं में वह ब्रह्मात्मा की विस्मृति नहीं होने देता, इसी को महात्माओं द्वारा अनन्य चिन्तन, अनन्य भक्ति या उपासना नाम दिया गया है ।

प्रश्न-३४ : उपासना किसे कहते हैं उसका वास्तविक क्या स्वरूप है ?

उत्तर : गुण सहित ब्रह्म का चिन्तन करने को सगुण उपासना कहते हैं तथा गुण रहित केवल ब्रह्मात्मा का ध्यान करने से निर्गुण उपासना कहते हैं । ब्रह्म का कभी भी विस्मरण न हो इस सावधानी का नाम ही उपासना हुआ है । उपासना में उपास्य और उपासक ऐसी भिन्नता कभी नहीं होती है । सत्य में जब नाम रूप हुआ ही नहीं तब सगुण कहाँ ? एवं जब सगुण ही नहीं तो निर्गुण शब्द भी मृगजलवत् कल्पित ही है ।

सतरंग अथवा निस्तरंग समुद्र एक रूप ही है । इसी प्रकार सच्चिदानन्द सागर में समस्त नाम, रूप जगत् तरंगवत् होने से सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप से भिन्न नहीं है । यह सब नाम रूप दृश्य उत्पन्न हो या लय हो सच्चिदानन्द सागर तो अखंड एक रस विलस रहा है ।

जो ब्रह्म है, वही कूटस्थ आत्मा है । जो कूटस्थ आत्मा है, वही परमात्मा है । चींटी से लेकर विष्णु आदि देव पर्यन्त मैं आत्मा हूँ । मैं एक कण जितना भी ब्रह्म से कम नहीं कि दूर नहीं, क्योंकि ब्रह्मात्मा अद्वैत है । यह देह, तृण, विष्णु, आकाश, पहाड़ आदि समस्त एक समान ब्रह्मात्मा ही है । यही सच्ची अभेद भक्ति है । इससे श्रेष्ठ अन्य कोई उपासना नहीं, जो पूर्ण कैवल्य पद को प्राप्त करा सके ।

परिपूर्ण ब्रह्मात्मा को नहीं जान केवल साकार मूर्ति का ध्यान करते रहना, यह केवल नाम मात्र की उपासना है । इससे कैवल्य मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । यह बात मुमुक्षु को मन ही मन रखना चाहिये कि साकार ध्यानादि उपासना एकदेशी है, इसलिये अल्प है । अस्तु विभु की उपासना ही ग्राह्य है । भगवान सनत्कुमार द्वारा भक्त नारद ने विभु उपासना का उपदेश ग्रहण किया था ।

हे आत्मन् ! जो सर्वात्म भाव से अकृत्रिम (निराकार) अद्वैत ब्रह्म की ''सोऽहम्'' रूप से उपासना करता है, उसे आँख बंद करके स्थिर बैठने की जरूरत नहीं । उसे एकान्त एवं आसन की जरूरत नहीं । गले में माला, मस्तक पर तिलक या प्राणयाम की जरूरत नहीं । उसे पूर्व-उत्तर दिशा का विवेक रखने की एवं ब्राह्मी मुहूर्त में बैठ ध्यान करने की जरूरत नहीं । उसे काशी आदि पवित्र देश की जरूरत नहीं । उसे नित्य स्नान, पूजा आदि बहुत प्रकार के उपकरणों की जरूरत नहीं । कर्म-कांड़ के व्रत, नियम, यज्ञ, हवन, तर्पण और पुरश्चरणादि की भी जरूरत नहीं । उसे वाणी के मौन एवं मन की वृत्ति को शांत, एकाग्र करने की भी जरूरत नहीं । वृत्ति को रोकने की भी जरूरत नहीं । उसे किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं है । उसे तो चलते, बोलते भाषण करते, भोजन, गमन, शयन करते ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा अचुक स्मरण बना रहता है ।

देह बुद्धि ही बन्धन का हेतु है यदि देह भाव न उठे एवं आत्म भाव

का विस्मरण भी हो जावे तो कोई क्षति नहीं । देव दर्शन के लिये गुरु के पास गया शिष्य गुरु कृपा से स्वयं देव बनकर बैठ जाता हैं । अन्य अज्ञानी लोग देव-देव करते व्यर्थ दुःखी हो, उसे खोजते फिरते है । स्वर्ग, वैकुंण्ठ आदि स्थानों में होने की कल्पता करते हैं । याद रखें ! वह देव अन्य नहीं हैं । एक देशीय नहीं है, किन्तु सर्व देश, सर्व काल, सर्व रूप में विद्यमान है । इस प्रकार की निश्चय, धारणा ही वास्तविक देव उपासना है । अपने सहित सर्व दृश्य को अपने इष्ट रूप में निश्चय करना भी भक्तों के लिये श्रेष्ठ उपासना है । यदि नित्य स्नान, संध्या, और योग ना हो तो कर्मकांडी को अच्छा नहीं लगता । भजन पूजन, ध्यान न हो तो उपासक को अच्छा नहीं लगता । आसन, मुद्रा, प्राणायाम, मनोलय न हो तो योगी को अच्छा नहीं लगता । अभेद चिंतन ज्ञानी को ही प्रिय है ।

प्रश्न-३५ : जिसे तीनों देह से मैं-मेरा पना छूट गया उसके क्या लक्षण है ?

उत्तर : देहात्मधिवत् ब्रह्मात्मधि दाढ़र्ये कृत कृत्यता ।
यदातदायं म्रियतांमुक्तो नास्त्यत्र संशयः ॥१८॥

लघु वाक्य वृत्ति शंकराचार्य

"मैं देह हूँ" ऐसी दृढ़ बुद्धि की तरह "मैं आत्मा हूँ" ऐसी बुद्धि जब दृढ़ होती है, तभी जीव कृत-कृत्य हुआ जानो । शरीर को जब मरना हो तब मरे किन्तु ब्रह्मात्म धारणा वाला नित्य मुक्त है । इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं करना चाहिये । देह बुद्धि को दूर करने हेतु इस ब्रह्मात्म चिन्तन से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है । दूसरे के देह का नाश होने पर जैसे द्रष्टा को खराब नहीं लगता है उसी प्रकार अपने देह के नाश होने पर भी अपने को खराब नहीं लगे तभी जानो कि देह में से मैं-मेरा भाव समाप्त हुआ ।

जब तक देह से मैं पना दूर नहीं होता तब तक सम्बन्धियों से मेरा पना भी दूर नहीं हो पाता है । देह से मैं पना मिट जाने के बाद किसी भी

अवस्था में मैं देह हूँ ऐसा स्मरण नहीं होता । जाग्रत में व्यवहारकाल में मैं अमुक जाति, आश्रमी, नाम, रूप, वर्ण, अवस्था वाला हूँ ऐसा बाहर से बोलने पर भी अन्दर से अभिमान नहीं होता है । यहाँ तक कि स्वप्न में भी ''अहं ब्रह्मास्मि'' का ही स्फूरण होने लग जाता है । व्यवहार दशा में कोई उसे नाम, जाति, आश्रम वाला कहकर बतावे, तब भी वह अन्दर से जानता है कि मैं नाम रूप आकार वाला नहीं हूँ । मैं तो अविकारी, अविनाशी, अनामी, अरूपी, आत्म ब्रह्म हूँ, ऐसा उसे दृढ़ निश्चय रहता है । ऐसा दृढ़ निश्चयी फिर भले ही व्यवहार में ऊपर-ऊपर से मैं-मेरा क्यों न कहे उसकी कोई क्षति नहीं हो पाती है ।

हे आत्मन् ! अज्ञान दशा में थोड़ा पुण्य कर्म होने से सहज यह मनोभाव उदय हो जाता था कि यह अच्छा कार्य मैंने किया है । यदि कुछ खराब काम हो जाता था तो मैंने यह पापात्मक कार्य किया है । ऐसा क्षण-क्षण में मिथ्या अभिमान कर उन शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगने को कर्तव्य रूप मान लेता था । जब ज्ञान द्वारा स्थूल-सूक्ष्म देह से अभिमान निवृत्त हो जाता है, तब स्थूल-सूक्ष्म देह द्वारा चाहे शुभ कर्म हो या अशुम कर्म हो, मन-बुद्धि आत्म चिन्तन करे या अनात्म चिन्तन, वाणी जाप करे या गाली दे, ज्यादा क्या कहा जावे उसके हाथ से समस्त जगत् की हत्या हो या रक्षण हो जावे, तब भी वह किंचित् हर्ष-शोक को प्राप्त नहीं होता है । वह अन्दर से अपने को पापी या धर्मी नहीं मानता है । फिर यह पापकर्म मैंने क्यों किया या यह धार्मिक कर्म मैंने कर लिया ऐसा अभिमान धारण नहीं करता । उसके देह, इन्द्रिय के समुदाय द्वारा सर्व प्रकार के कर्म होते रहते हैं । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अपना-अपना कार्य भी करते रहते हैं, किन्तु वह भीतर से ऐसा कभी नहीं सोचता कि मैं पाप कर्म के फलस्वरूप अधोगति एवं पुण्य कर्म के फलस्वरूप उत्तम गति को प्राप्त करूँगा । जो सूक्ष्म शरीराभिमानी है वह मुख से अहं ब्रह्मास्मि भी क्यों न कहता रहे, वह जन्म-मरण से बच नहीं सकता । निराभिमानी कभी ऐसा नहीं मानता कि क्रिया मैंने की । उसे अपने

द्रष्टा स्वरूप में कभी भ्रम नहीं होता । समस्त व्यवहार होने पर भी उसे विक्षेप नहीं होता है ।

प्रश्न-३५ : मूल अज्ञान का क्या स्वरूप है एवं निवृत्ति की क्या पहचान है ?

उत्तर : अपने आपको द्रष्टा, साक्षी सच्चिदानंद स्वरूप न जानना एवं आत्मा, देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण की अवस्था को अपना स्वरूप जानना ही मूल अज्ञान है । मैं अकर्ता होकर अखंड एक रूपता को प्राप्त हुआ हूँ यह अहंकार ब्रह्मात्मा नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष देहादि अवस्था का अहंकार ही धारण किया है । क्योंकि जो स्वयं अनुभव रूप होते हुए अपने को भिन्न रूप से अनुभव करने वाला मानता है यही उसके अपने ब्रह्म स्वरूप का विस्मरण समझना चाहिये । यही जन्म-मरण का हेतु मूल अज्ञान है । जो कारण देहाभिमानी जीव प्राग तथा स्वप्नाभिमानी तैजस के अहंकार को अपने ऊपर धारण करता है कि मैं ब्रह्म सुख को प्राप्त हुआ । उसका यह मिथ्या अभिमान उसके ब्रह्म से भिन्नता का ही निश्चय बतलाती है । ऐसे निष्ठावान् जीव को कारण देह का अभिमानी प्राग कहते हैं । मैं सुखी, मैं मुक्त हुआ, मैं धन्य हुआ, मैं धन्य हुआ, मैं अभिन्नता को प्राप्त हुआ यह सब प्राज्ञ जीव ही है यह सब कार्य चिदाभास जीव के हैं । शुद्ध साक्षी चिदात्मा इस निश्चय को भी जानता है ।

ब्रह्म का अनुभव करने वाला, सहज सुखरूपता का अपने में अनुभव करने वाला जीव है । मैं वह नहीं किन्तु उसका प्रकाशक केवल निर्विकार लय साक्षी हूँ । अर्थात् ध्याता जीव जिस सुख को पा कर अपने को सुख रूप अनुभव करता है वह परम सुख रूप मैं ब्रह्मात्मा हूँ । मैं ब्रह्म के सुख से सुखी हुआ, मैं ज्ञाता, ज्ञान द्वारा मुक्त हुआ यह लक्षण आभास जीव के हैं, ब्रह्म के नहीं । मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति को जिसने बनाया एवं निश्चय किया है वह चिदाभास मैं हूँ ऐसी धारणा नहीं होना चाहिये

बल्कि मैं इनसे पृथक् अनुभाव्य रूप जो परिपूर्ण, अखंड, नित्य, ज्ञान रूप जानने योग्य है, वही मैं हूँ ऐसा निश्चय करना चाहिये । जानने वाला, ध्यान करने वाला, स्मरण-चिन्तन करने वाला एवं अनुभव करने वाला जो आभास जीव है, यह सब मैं नहीं हूँ ।

मैं स्वयं प्रकाश स्वतः सिद्ध उनसे पृथक् ब्रह्मात्मा हूँ, ऐसा निश्चय करना चाहिये । ब्रह्मानुभव अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय तो रहे, किन्तु मैं अनुभव करने वाला (चिदाभास) नहीं हूँ । यह सब कार्य तो आभास के है, यह मैं कैसे हो सकता हूँ ? जब मुख्य आभास ही झूठा है तब उसके धर्म कैसे सत्य हो सकते हैं ? अनुभव लेने वाला मैं जीव नहीं बल्कि स्वयं ब्रह्म ही हूँ यह निश्चय सदा रहना चाहिये इस प्रकार की धारणा से द्वैत भाव दूर होकर प्राज्ञ जीव मूलाज्ञान सहित निवृत्ति हो जावेगा ।

हे आत्मन् ! ब्रह्मानुभव के समय ''मैं अनुभव करने वाला हूँ'' ऐसा नहीं मानना चाहिये । जैसे दर्पण में देखते समय, यह दर्पण में दिखाई पड़ने वाला आभास मैं हूँ ऐसा कोई नहीं कहता, इसी प्रकार ब्रह्म चिंतन करते समय चिंतन में आने वाला मैं नहीं हूँ । ब्रह्म का अनुभव करने वाला चिदाभास जीव मैं हूँ ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु मैं स्वयं अनुभाव्य रूप ब्रह्म हूँ ऐसी अखंड धारण जिसकी हो जाती है वह साधक नहीं स्वयं ब्रह्म रूप ही होता है । ''ब्रह्मवित् स्वतः ब्रह्म ही है'' ।

प्रश्न-३७ : जीवन्मुक्त दशा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीवन्मुक्त हुए ज्ञानी का शरीर प्रारब्ध प्रेरणा से चाहे जैसा व्यवहार करे किन्तु मुझे ऐसा करना चाहिये एवं ऐसा नहीं करना चाहिये इस प्रकार का विधि निषेधात्मक द्वन्द्व उसके लिये कुछ भी नहीं रहता है । वह जो करता है वही उसके लिये विधि है, और जो नहीं करता है वही उसके लिये निषेध है । ऐसे ज्ञानी पर विधि-निषेध आरोपण करने के लिये स्वयं वेद भगवान भी समर्थ नहीं है । वह तो काल की भी परवाह नहीं करता है ।

ब्रह्मात्मा पर काल का भी कोई प्रभाव नहीं होता है । वह तो सृष्टि रचियता ईश्वर के संविधान से भी मुक्त रहता है । वह तो स्वयं महादेव, महेश्वर, महाकाल है ।

पूर्ण ज्ञानी का शरीर प्रारब्धवश कल्प पर्यन्त रहे या कर्म क्षय से आज ही मृत्यु को प्राप्त हो जावे, किन्तु ज्ञानी के मन में उसको रखने या शीघ्र नष्ट करने का कोई आग्रह नहीं रहता है । अपरोक्ष ज्ञान होते ही ज्ञानी के सभी कर्म अपनी आत्मनिष्ठा से दग्ध हो जाते है । क्या जिस पुरुष की तीन पत्नियाँ हों उनका पति मर जावे तब क्या दो पत्नी विधवा एवं एक सधवा बाकी रह सकेगी ? कभी नहीं । किन्तु अन्य मुमुक्षुओं को ब्रह्मज्ञान प्रदान करने हेतु उनके भाग्य से प्रारब्ध बच जाता है ऐसा कहाजाता है । अन्यथा प्रारब्ध के नाश हो जाने पर यदि ज्ञानियों के स्थूल शरीर का भी नाश हो जाता तो अज्ञानियों को कौन उपदेश करता ? अज्ञानी मुमुक्षुओं को उपदेश करने के लिये ही ज्ञानी का शरीर जगत् में दिखाई पड़ता है । आश्चर्य है फिर भी अज्ञानी मूर्ख उनकी शरण में जाकर अपना कल्याण नहीं करते हैं बल्कि कल्पित देवी-देवता एवं दम्भी गुरु की शरण में पड़ जीवन नष्ट कर देते हैं ।

ज्ञानी के देह पर्यन्त क्रियाएँ तो होती रहती है किन्तु उनमें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता है । जब तक क्रिया के कर्ता को क्रिया में कर्तृत्वता नहीं आती, तब तक वह कर्म उस कर्म द्रष्टा को शुभाशुभ फल का कारण नहीं बन सकता । फिर ज्ञानी द्वारा हुई शुभाशुभ क्रिया का फल कहाँ जाता है ? तो उसके लिये कौषितकोपनिषद् श्रुति कहती है कि प्रारब्ध की प्रेरणा होने से ज्ञानी द्वारा जो शुभाशुभ क्रिया होती है, उन क्रियाओं के प्रति ज्ञानी अकर्ता होने से उसको उन कर्मों का पुण्य पाप रूपी फल स्पर्श नहीं करता है । उसके भोगने के लिये अन्य दो व्यक्ति होते हैं । जो ज्ञानी की निंदा करते हैं, दुःख देते हैं, उनसे व्यर्थ दुराग्रह करते हैं, उनके सत्य उपदेश का तिरस्कार करते हैं, वह अश्रद्धालु उन ज्ञानी महापुरुषों के पाप कर्मों का भोग करता है । तथा जो उनकी श्रद्धापूर्वक अनन्य भाव से भक्ति, पूजा, सेवा करते हैं । उस श्रद्धालु

को ज्ञानी का अनन्त पुण्य भोगने को स्वतः ही उसी प्रकार उन्हें प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार की ढाल देखकर पानी गडढे को प्राप्त हो जाता है । ज्ञानी स्वयं ब्रह्म है वह देहादिक नहीं है । किसी ज्ञानी ने प्रारब्ध भोग वाले शरीर का नाश नहीं करना चाहा । मूर्ख ही आत्महत्या कर अधोगति को प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न-३८ : ज्ञानी को परेच्छा प्रारब्ध तथा अनिच्छा प्रारब्ध बन्धन रूप नहीं किन्तु स्वेच्छा प्रारब्ध तो बंधनकारक होगा या नहीं ?

उत्तर : इच्छा करके यदि ज्ञानी किसी भी प्रकार का विधि निषेधात्मक भोग भोगता है तो भी उसे वह भोग बन्धन कारक नहीं है; क्योंकि उसकी कर्मों में कर्तृत्व बुद्धि नहीं एवं भोगों में सत्यत्व बुद्धि नहीं होती है । ज्ञानी की कर्म एवं उनके फल में सदा मिथ्यात्व बुद्धि ही बनी रहती है । तब फिर उसे किसी भी प्रकार का प्रारब्ध या बन्धन कैसे हो सकता है ? कर्म, कर्ता, भोग एवं भोक्ता दोनों को सत्य जाने तभी प्रारब्ध बन्धन कारक हो सकता है । जैसे ही ज्ञान से उसके मनकी चित-जड़ ग्रन्थि छूटती है, उसी समय से उसके मन से भोक्तापना चला जाता है । ज्ञानी को समस्त भोग मिथ्या है ऐसी भावना हो जाने से कल्पान्त तक भी उनमें सत्यत्व बुद्धि नहीं होती है । जब भोक्ता ही उत्पन्न नहीं हुआ तो फिर करोड़ों प्रकार की इच्छा एवं भोग हो तो भी बन्धन कारक नहीं होते हैं । प्रारब्ध से ज्ञानी का देहान्त पवित्र काशी आदि देश में हो, या चाण्डाल के घर में हो, रात्रि में हो या दिन में, कृष्ण पक्ष में हो या शुक्ल पक्ष में उसके देह की मृत्यु कभी भी हो तो भी उसका उन अवस्था, कालादि से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है ।

मूर्खों का सिद्धान्त है कि शुक्ल पक्ष हो, राम नाम मुख से निकलता हो, कौवा स्पर्श कर जावे तो उत्तम गति अन्यथा अधोगति होती है । किन्तु गति ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं । फिर जिसे स्वर्ग में जाना हो वह शुक्ल

पक्ष उत्तरायण की प्रतिक्षा करे । ज्ञानी तो मुक्त ही है, उसका स्वरूप ही गति मोक्ष है । उसके प्राण उत्क्रमण कर अज्ञानी की तरह बाहर देश में नहीं जाते; क्योंकि वह ब्रह्म के साथ अभिन्नता का अनुभव करता है । योगी सत्यलोक की वासना करके प्राण को ब्रह्मरन्ध्र से छोड़ते हैं । उपासक सालोक्य मुक्ति की इच्छा से अपने इष्ट का ध्यान करता हुआ प्राण छोड़ता है, किन्तु ज्ञानी तो स्वयं महादेव महेश्वर ही है । फिर वह अनन्त है तो अन्त कहाँ एवं किसका ध्यान करे ? वृक्ष से गिरा फल जैसे स्वतः ही पृथ्वी को प्राप्त हो जाता है ठीक इसी प्रकार देह नाश पर बिना इच्छा किये ज्ञानी विदेह मोक्ष को स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न-३९ : संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात समाधि में क्या अन्तर है ?

उत्तर : विषयाकार वृत्ति का लय होने के बाद जो एकमात्र चेतन में बुद्धि की दृढ़ स्थिति होती रहती है उसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं । जब वृत्ति विषयाकार हो विचरती रहती है किन्तु अपने द्रष्टा साक्षी निर्विकल्प आत्म स्वरूप का दृढ़ निश्चय उसमें बना रहता है उसे संप्रज्ञात सविकल्प समाधि कहते हैं । जैसे स्वर्ण को गलाकर देखा जावे तो उसमें अलंकारों का किंचित् भी दर्शन नहीं होता इसी प्रकार जब चित्त वृत्ति किंचित् भी विषयाकार नहीं होती सुषुप्तिवत् एक अद्वितीय साक्षी आत्मा ही रहता है उसे निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं ।

अलंकार के रहते जैसे नाम रूप का ध्यान हटा कर देखें तो एकमात्र स्वर्ण ही रहता है उसी प्रकार संप्रज्ञात सविकल्पता होने पर भी एकमात्र स्वर्णवत् निर्विकल्पता ही रहती है किन्तु व्यवहार प्रधान होने से इसे सविकल्प संप्रज्ञात समाधि कहते हैं ।

व्यवहार दशा में वृत्ति विषयाकार होने एवं तत्रूप क्रिया होने पर भी वह स्वप्नवत् मिथ्या अनुभव में आती है, उस व्यवहारिक जाग्रत दशा में रहने पर भी जो अपने को एकमात्र अखंड निर्विकार असंग अद्वितीय ब्रह्मात्मा

ही सुषुप्तिवत् जानता है वह किसी भी दशा में अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता वही निर्विकल्प है । अलंकार बनने तथा लय होने से मूल स्वर्ण में कुछ घट-बढ़ नहीं होती, वह तो हर अवस्था में एक रूप ही रहता है । उसी प्रकार मन चंचल हो या शांत हो किन्तु निर्विकल्प आत्मा सदा एकरस ही रहती है ।

पूर्ण दृढ़ ज्ञानी व्यवहारकाल में एवं निवृत्तिकाल में किंचित् भी अपने ब्रह्म निष्ठा से विचलित नहीं होता । सविकल्प अलंकार अपने निराकार स्वर्ण रूप से जैसे अलग नहीं बल्कि स्वर्ण रूप ही है । उसी प्रकार नाम रूप दृश्य सविकल्पता अपने अधिष्ठान निर्विकल्प रूप ही है । स्वर्ण ही अलंकार रूप हुआ है अलंकार के आदि, मध्य, तथा अन्त में एक स्वर्ण ही है । अलंकार तो मध्य में मिथ्या प्रतीत होता है इसी प्रकार दृश्य जगत् के आदि अन्त में तो एक अद्वितीय सत ब्रह्म ही है केवल मध्य में ही जगत् रूप सविकल्पता भासित होती है । जैसे मंद अंधकार में पड़ी रस्सी में भासित होने वाले सर्प का आदि मध्य तथा रस्सी ही है । केवल मंद अंधकार के समय ही सर्पाकार-भासित होता है । इसी प्रकार सविकल्प के आदि मध्य तथा अन्त में एक अद्वितीय निर्विकल्प चेतन ही है ऐसा जिसे गुरु कृपा से निश्चय हो गया उसके संशयों के मूल अज्ञान का नाश हो जाने से वह किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, उसकी सहज समाधि है ।

प्रश्न-४० : सहज समाधि किसे कहते हैं ?

उत्तर : नाना अलंकारों के नाम रूप से सत्यत्व बुद्धि का त्याग कर केवल स्वर्ण निश्चय करना ही वास्तविक तत्त्व दृष्टि है । अलंकार रहे या नष्ट हो किन्तु स्वर्ण तो सर्वदा है ही उसी प्रकार दृश्य वृत्ति उठे या लय हो जावे समस्त सविकल्प दृश्य में द्रष्टा निर्विकल्प अधिष्ठान रूप से तो विद्यमान ही रहता है । अन्यथा दृश्य की प्रतीति जड़ दृश्य को तो होगी ही कैसे ? उसका प्रकाशक अवशय उससे भिन्न ही होगा । ज्ञानी, चींटी से लेकर ब्रह्मा तक का

जगत् स्थूल सूक्ष्म दृष्टि से देखता विचरता है एवं उन्हें अपना ही विवर्त रूप जानता है ।

स्वर्ण अलंकारों के रूप में अपना ही अन्य रूप देखता है । अलंकार और है व स्वर्ण और है ऐसा तो द्वैत भाव का स्थान स्वर्ण और अलंकार नहीं है । इसी प्रकार दृश्य जड़ और है व मैं, द्रष्टा, चेतन, और हूँ ऐसी भेद बुद्धि तत्त्व ज्ञानी कभी नहीं करता । बोलने के लिये व्यवहार में सविकल्प निर्विकल्प यह दो नाम हुए हैं किन्तु ज्ञानी एक निर्विकल्प ही जानता है । अर्थात् अपना ही प्रतिबिम्ब रूप सविकल्प जगत् जानता है । अन्तःकरण की वृत्ति से लेकर बाह्य विषय तक समस्त वस्तु दृश्य सविकल्प अनात्मा ही है किन्तु उन सब भेद भ्रान्ति के उपादान नाम रूप को छोड़ ज्ञानी उनमें एक निर्विकल्प आत्मा का ही मैं रूप से ग्रहण करता है कि सविकल्प चिद्रुप भी मैं ही हूँ ।

अलंकारों में एकमात्र स्वर्ण ही है । उसे अपने में अलंकारों का होना भासित नहीं होता । इसी प्रकार ज्ञानी को नाम रूप जगत में सत्यता की बुद्धि चली जाती है । तत्त्व ज्ञानी के लिये विष्णु आदि देव एवं बिल्ली, कुत्ता आदि पशु समान ही है । उसकी न तो देवों में श्रेष्ठ बुद्धि होती है और न पशु-पक्षी आदि में निकृष्ट बुद्धि होती है, किन्तु उसके निश्चय में तो देव-पशु आदि सर्व योनियों में एक अपना ही आत्म स्वरूप प्रतिबिम्बित होता दिखता है । अर्थात् वह सब रूपों में अपने को ही देखता है । देखने में हाथी बड़ा एवं चींटी छोटी, आकाश बड़ा एवं कण छोटा प्रतीत होता है किन्तु निश्चय में छोटे-बड़े की भावना नहीं रहती । वह तो अपने को एक निर्विकल्प स्वतः सिद्ध ही समझता है ।

देह संघात् में अज्ञानी जैसे मैं पने की बुद्धि करता है तत्त्वज्ञानी सर्व ब्रह्माण्ड में उसी प्रकार मैं पने के निश्चय से रहता है । ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा नाम रूप के प्रति उसकी भेद दृष्टि नहीं जाती । भले ही सब दृश्य साकार रूप हो या निराकार रूप किन्तु उसकी बुद्धि कभी द्वैत भाव से ग्रसित नहीं

होती है ।

तरंग सहित या तरंग रहित जैसे एक समुद्र रूप ही होता है । उसी प्रकार वृत्ति सहित अन्तःकरण एवं वृत्ति रहित समाधि अवस्था में ज्ञानी अपने को असंग स्वतः निर्विकल्प एक रूप ही जानता है । जैसे मेघ रहित एवं मेघ सहित आकाश में कमी या ज्यादा पन नहीं होता, उसी प्रकार सविकल्प या निर्विकल्पावस्था में ज्ञानी निर्विकार निर्विकल्प ही है । अग्नि की लपटे उठे या शांत हो जावे, किन्तु अग्नि एक रूप ही है इसी प्रकार ज्ञानी समाधि एवं विक्षेपावस्था में एक रूप से ही स्थित रहता है ।

हे आत्मन् ! अन्तःकरण से लेकर देह पर्यन्त सर्व प्राणी, जाग्रत में अपना-अपना व्यापार करते हैं । स्वप्न में सूक्ष्म देह से क्रीड़ा होती है । तथा सुषुप्ति में सब कुछ लीन हो जाता है । देह मूर्छित हो या मरे, मन चंचल हो या समाधि में एकाग्र रहे किन्तु ज्ञानी सभी अवस्थाओं में परिपूर्ण एक रूप ही है । सुख या दुःख में, योग या भोग में, मान या अपमान में सब अवस्थाओं में निर्विकल्प आत्मा की एकरूपता ही बनी रहती है । तत्त्व ज्ञानियों को ऐसा निश्चय ही सहज समाधि है ।

जिस ज्ञानी ने सब देहों में अपने को एवं अपने में सब देहों का ओत-प्रोत भाव से एकत्व निश्चय कर लिया है, अब उसके लिये एक देहका कर्तापन कहाँ से रहेगा ? जगत् उत्पन्न हो या प्रलय हो जावे, उसका आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । तब एक देह के व्यापार से आत्मा विकारी कैसे हो सकता है ? ज्ञानी के लिये देहादिक रहे या जावे वह एकरूप ही रहता है और ऐसी स्थिति का नाम ही सहज समाधि है ।

हे आत्मन् ! इस सम दृष्टि से ऊँची कोई स्थिति नहीं यह सबके लिये सहज में सहज है । जीवन्मुक्ति, विदेह मुक्ति, कैवल्य मुक्ति आदि सर्व स्थितियों से यह चरम स्थिति है । इस अवस्था को प्राप्त होने के बाद उससे श्रेष्ठ कुछ अन्य प्राप्त करने के लिये शेष नहीं रहता, किन्तु यह स्थिति बिना

सदगुरु की शरणागति के किसी भी साधन से प्राप्त नहीं होती है । इस स्थिति में रहकर ही ब्रह्मा, विष्णु, शंकर अपना-अपना कार्य करते हैं एवं प्रत्यक्ष रूप में संतजन महापुरुष जगत् में विचरते हुए जगत् का कल्याण करते रहते हैं ।

जिसने समस्त वृत्तियों का साक्षी अपने को जान लिया उसकी मुक्ति में किंचित् भी सन्देह नहीं, परन्तु किसी को तो यह स्थिति ज्ञान समकाल में ही हो जाती है किन्तु किसी मन्द बुद्धि वाले को कुछ काल निदिध्यासन द्वारा निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति के प्रवाह रूप चिन्तन से प्राप्त हो जाती है ।

विचारवान् विवेकी विचार द्वारा शिघ्रता से मुक्ति प्राप्त कर लेता है एवं जो मन्द बुद्धि वाला होता है वह अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे आत्मनिष्ठा प्राप्त करता है । विचारशील उत्तम अधिकारी मुमुक्षु शिघ्र सहज समाधि को प्राप्त हो जाता है । तथा कठिन अभ्यास एवं विलम्ब से सहज समाधि आत्मनिष्ठा को प्राप्त करने वाला कनिष्ठ अधिकारी कहलाता है ।

उत्तम अधिकारी का ऐसा निश्चय होता है कि मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, मेरे से पृथक् कोई सविकल्प दृश्य जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ । देह सहित् सम्पूर्ण दृश्य जगत् पहले से मिथ्या है ऐसा दृढ़ निश्चय वाला ही सहज समाधि में स्थित है । ''मैं आत्मा हूँ'' ऐसा दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होने के साथ ही विचारवान् को सहज समाधि प्राप्त हो जाती है, किन्तु मन्द बुद्धि वाले को संशय निवृत्त न होने से मुक्ति में विलम्ब लगता है मुक्ति ज्ञान के लिए उसे कुछ काल निरन्तर सत्संग करना होगा ।

प्रश्न-४१ : मैं ब्रह्मात्मा हूँ यह चिन्तन की धारा अखंड न रह कर देह बुद्धि क्यों हो जाती है ?

उत्तर : अनादिकाल से जन्म से मृत्यु तक प्रति जीवन में सब समय मन को देहाध्यास का अभ्यास चला आ रहा है । उसके कारण ही मैं ब्रह्म हूँ

ऐसा एक क्षण के लिये निश्चय होते ही दूसरे क्षण देह बुद्धि उदय हो जाती है । अदृढ़ ज्ञानी को इस प्रकार का द्वन्द्व चलता रहता है । उसके लिये उसे निदिध्यासन रूप सजातीय (आत्माकार) वृत्ति का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये । जिससे उसकी देह वृति का क्षय होने लगेगा एवं धीरे-धीरे इस मंद अधिकारी को ब्रह्मात्म निश्चय दृढ़ हो जावेगा । देह का संकल्प उठते समय भी उसका तिरस्कार करते रहना चाहिये कि यह सब दृश्य होने के नाते मैं नहीं हूँ । संकल्प उठे, रहे अथवा जाय किन्तु उनमें मिथ्यात्व ही निश्चय करते रहना चाहिये । दृश्य रूप संकल्प, निश्चय एवं चिन्तन आदि वृतियों में सत्यत्व बुद्धि नहीं आने देना चाहिये ।

मैं देह हूँ दृढ़ अभ्यास तो अनादिकाल का है एवं मैं ब्रह्म हूँ यह बोध तो अभी संशय युक्त बुद्धि में उदय हुआ है । इस कारण पूर्व अध्यास से क्षण-क्षण में विक्षेप होता रहता है, और यह अदृढ़ ज्ञान का ही लक्षण है । जहाँ तक दृढ़ ज्ञान न हो वहाँ तक बारम्बार ब्रह्मात्म चिन्तनार्थ ''सोऽहम्'' ''अहं ब्रह्मास्मि'' आदि महावाक्यों का अनुभव रूप चिन्तन करते रहना चाहिये । इससे देह बुद्धि का धीरे-धीरे पूर्णतया क्षय हो जावेगा, एवं देह बुद्धि उठते समय भी उसके प्रति मिथ्यापने का निश्चय बनाये रखना चाहिये । इसके अलावा अनात्म देह से आत्म बुद्धि को हटाने के लिये कोई अन्य तरीका नहीं है । सब वृत्ति एवं विचार के लय का जो साक्षी शेष रहता है, जो ''नेति-नेति'' की चरम सीमा है उसे अपना स्वरूप जानो ।

प्रश्न-४२ : कभी ब्रह्मात्म चिन्तन, कभी देहात्म चिन्तन होने की अपेक्षा सविकल्प वृत्ति का पूर्ण निरोध कर अखंड़ समाधि कैसे स्थिर रह सकती है ?

उत्तर : हे आत्मन् ! बहुत आश्चर्य है कि अब इतना स्पष्ट श्रवण-मनन कर लेने के बाद भी तू यह विरोधात्मक प्रश्न कैसे करता है ? अरे भाई ! अभी तो तू यह कहता आ रहा था कि मुझ द्रष्टा को देह बुद्धि छू नहीं

सकती, यह बात क्या भूल गया, जो अब पुनः अज्ञानी की तरह प्रश्न करता है कि जल से तरंग को पूर्णतया समाप्त कर एक अखंड जल सत्ता को ही क्यों न कायम रखा जावे ? तो बता अलंकार रहते क्या स्वर्ण अन्य हो गया ? तरंग रहते क्या जल अन्य हो गया ? क्या जगत् होने से निर्विकल्प तू आत्मा अन्य हो गया ? कदापि नहीं ।

याद रख ! जैसे आकाश से वायू रूप तरंग का निरोध नहीं किया जा सकता है । वैसे ही चिदाकाश से मन रूप तरंग का निरोध भी किसी प्रकार हो नहीं सकता । क्या सूर्य रहते मृगजल प्रतीति का अभाव हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार देहधारी प्राणी के रहते मन संकल्प का पूर्ण अभाव नहीं हो सकता है ।

द्रष्टा, साक्षी तो अपना नित्य प्राप्त स्वभाव ही है । तभी तो हम मन के प्रत्येक संकल्प वृत्ति के उत्थान लय को जानते रहते हैं । एवं वाणी के द्वारा कह कर बता देते हैं कि मेरा मन चंचल अथवा शान्त है, इस मन के उत्थान तथा लय का जो साक्षी है वह नित्य, निर्विकार है । सूर्य उदय हो या अस्त हो उससे द्रष्टा पुरुष की दृष्टि में क्या अन्तर पड़ सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं । द्रष्टा तो ज्यों का त्यों सदा एक रस, अखंड रूप से विद्यमान ही रहता है अन्यथा उसके विकारी हो जाने पर या लय हो जाने पर सबके अभाव एवं विकार का पता किसे हो पाता ? शून्य तो किसी को जानता नहीं, अवश्य कोई नित्य चेतन तत्त्व ही ज्ञात होगा और ''वह तू है'' ।

हे आत्मन् ! निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि को सिद्ध करने के लिये सविकल्प संप्रज्ञात वृत्ति का समूल से नाश नहीं करना है । कारण कि देह उपाधि जब तक प्रारब्ध से बनी है, वहाँ तक सविकल्प वृत्ति का फुरना उठेगी ही उन्हें रोकने में न शिष्य समर्थ है, न गुरु और न अवतारी पुरुष । सविकल्पता उठेगी तो उनके साथ मन-बुद्धि चित्त तथा अहंकार भी रहेंगे वे कहाँ जा सकेंगे ?

ज्ञान तथा अज्ञान दोनों ही वृत्ति के विषय हैं । बंध-मोक्ष ज्ञान-अज्ञान, विक्षेप-समाधि आदि सभी अवस्थाएँ सविकल्प चिदाभास की ही है । निर्विकल्प तो निर्विकल्प ही है, उस पर ज्ञान या अज्ञान, स्मरण या विस्मरण, चंचल या शान्त किसी भी प्रकार का आरोप नहीं किया जाना चाहिये । वृत्ति ही ज्ञानाकार होती है । वही पूर्व के अज्ञान आवरण एवं बुद्धि के विक्षेप दोष को दूर करती है । अगर वृत्ति का ही समूल से निरोध कर दिया जावेगा तो ज्ञान के अनुभव का स्मरण कौन रखेगा ? ज्ञानानुभूति का स्मरण हुए बिना अज्ञान का बंधन सहज में टूटने का नहीं है । फिर व्यर्थ वृत्ति का निरोध करने का क्या लाभ ? ऐसी जड़ अवस्था को ज्ञान नहीं कहा जावेगा बल्कि वह समाधि नहीं निद्रा ही है ।

हे आत्मन् ! वृत्ति का आरोप अपने आत्म स्वरूप पर न हो, अपने को केवल वृत्ति के उत्थान एवं लय का साक्षी निर्विकल्प जानते रहना चाहिये । इसी का नाम ज्ञान है । इसमें वृत्ति के निरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं है । स्वर्ण, बोध के लिये उस पर से केवल अलंकार बुद्धि को दूर करना है । अलंकार को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, अलंकार तो स्वर्ण ही है । इस प्रकार के ज्ञान का नाम ही तत्त्व ज्ञान है ।

दूसरी बात यह है कि जीव अपनी बनाई हुई सृष्टि में ही परिवर्तन कर सकता है । क्योंकि उसके लिये वह जवाबदार है, किन्तु ईश्वरकृत सृष्टि का जीव को अभाव या नाश करने की न तो सामर्थ्य है, न कर्तव्य ही है । मन, बुद्धि, नेत्र, श्रोत्र, जिह्वा आदि ईश्वरकृत सृष्टि है । वह देह के साथ उदय हुई है तब देह के पूर्व उनका अभाव कैसे हो सकता है ? हाँ ईश्वरकृत सृष्टि पर हम अपनी क्षुद्र बुद्धि का जो आरोपण कर देते हैं, बस उसी का विवेक द्वारा नाश करना कर्तव्य है । अतः स्वतः सिद्ध स्वरूप के निश्चय में जो बिघ्न करने वाली देह प्रकृति के धर्म में अहंकार करने की विचारधारा है, उसका त्याग करना ही एकमात्र कर्तव्य है । अर्थात् निश्चय से उसे मिथ्या

रूप जानते रहना है । उसके अलावा धर्म-धर्मी सहित मन, बुद्धि आदि सर्व मिथ्या भूत व इन्द्रियाँ भले दिखाई दे, उनका हमें निरोध नहीं करना है । उसे नष्ट करने का दुराग्रह नहीं करना है न वह नष्ट भी नहीं हो सकती है । उनके नष्ट होने से लौकिक या पारलौकिक लाभ भी नहीं हो सकता है । अर्थात् दोनों ओर से अमंगलता को प्रदान करने हेतु ही होगा मुक्ति नहीं ।

मोक्ष के लिये साधक को शरीर की तो आवश्यकता है उसे तो नष्ट करना नहीं है एवं श्रवण, मनन जो मोक्ष के साधन है, उनके लिये श्रोत्र मनादि की भी परमावश्यकता है । प्रश्न करने के लिये कल्याण करने के लिये, जिज्ञासा लेकर गुरु के सम्मुख होना भी परमावश्यक है । उसके लिये पैर, नेत्र, वाणी, श्रोत्र, मन-बुद्धि, चित्त, अहंकार भी चाहिये । सोऽहम् चिन्तन के लिये वृत्ति की भी जरूरत है ।

अहं ब्रह्मास्मि की वृत्ति जितनी दृढ़ होगी उतने ही शिघ्र देहभाव का नाश होगा । अस्तु अहं वृत्ति की दृढ़ता के लिये अहंकार की भी जरूरत है । इस प्रकार वृत्ति से लेकर देह पर्यन्त ईश्वरकृत समस्त सृष्टि का संसारी व्यक्ति एवं मोक्षार्थी साधक इन दोनों को भी आवश्यकता है ।

संक्षिप्त में इतना ही जानो कि जिन-जिन कारणों से देह बुद्धि दृढ़ होती है एवं स्वतः सिद्ध आत्मा का अभान होता है, उन-उन का बलपूर्वक त्याग करना है । पुण्य-पाप का बीज उत्पन्न कराने वाली कर्तृत्व बुद्धि का बलपूर्वक त्याग करना चाहिये । जिन कारणों से देह बुद्धि का नाश होने में सहायता मिले उन स्थान, भोजन, औषध, श्रवण-मनन आदि व्यापार को नहीं छोड़ना चाहिये । वृत्ति से लेकर देह प्राण पर्यन्त जितना भी रचा गया है सब ईश्वरकृत होने से साधन में उपयोग होने से अत्याज्य है ।

प्रश्न-४३ : एक बार अपने को द्रष्टा रूप जान लेने पर फिर बारम्बार मैं ब्रह्म हूँ इस आवृत्ति की क्या आवश्यकता अस्तु समस्त वृत्तियों का निरोध कर पूर्ण निर्विकल्प दशा में रहने में

क्या आपत्ति ?

उत्तर : जब अज्ञान था उसी समय वृत्ति आदि का विकार निर्विकल्प आत्मा को बाधक नहीं था, तब ज्ञान हो जाने पर वृत्ति विघ्न रूप हो सकेगी ऐसा समझना ज्ञान नहीं अपितु भ्रान्ति ही है । वृत्ति स्वयं मिथ्या है और उनमें साधक को सत्यत्व बुद्धि करा फिर उसका त्याग करने का कहना यह भी एक मिथ्या अभिमान है ।

अस्तु समस्त वृत्ति का त्याग कर बैठने की इच्छा रखने वाला मूढ़ कल्पान्त में भी मुक्त होने का नहीं ।

रोगी को रोग-मुक्ति हेतु उपचार करना छोड़ रोगी के रोग को ढक कर रख छोड़ना रोगी को मारने का हेतु ही होगा । उसी प्रकार जिसे वृत्ति होते हुए यह सब मिथ्या रूप निश्चय नहीं कर केवल वह वृत्ति को रोक कर बैठ जावे तो वह मूर्ख ऐसा ही है जैसे घर में आग लगे और उसका कोई उपचार बिना किये, दरवाजा बंद करके बैठे जावे, उसी प्रकार जीव अभिमान से बंधा हुआ है, फिर भी वृत्ति द्वारा उस अज्ञान एवं उसके कार्य मिथ्या देहादि अभिमान क त्याग किये बिना वृत्ति का निरोध करने की चेष्टा कर रहा है । इसे आत्म हत्यारा ही जानना चाहिये ?

हे आत्मन् ! जब तक साधक को आत्म ज्ञान नहीं हुआ, वहाँ तक समस्त वृत्ति मन विषयादि को क्षीण करते चले जाते थे । जब ज्ञानी ने ज्ञान द्वारा उस मनोवृत्ति को पूर्ण रूपेण मिथ्या जान लिया फिर उनकी मृत्यु तो हो ही गई । अब वे मृतक तुल्य जड़ मनादि एवं उनकी सविकल्पता, चेतन निर्विकल्प आत्म स्वरूप को कैसे बाधा पहुँचा सकेगी ? यदि वो मृतक अज्ञान वृत्ति मनादि को बाधा करने को खड़े हो जावे तो फिर क्या तुम्हारा विवेकादि ज्ञान क्या उस मरी अज्ञान वृत्ति को पुनः नहीं मार सकेगा ?

हे आत्मन् ! यदि सर्व वृत्ति का त्याग करके बैठना चाहते हो तो

जिसके लिये समाधि,भक्ति, कर्म, योगादि साधन किये उस जीवन्मुक्ति को कौन भोगेगा ? समस्त प्रजा को तो मार दिया फिर राज्य पद का कौन भोग करेगा ? उसी प्रकार समस्त का लय कर दिया जावे तो फिर जीवन्मुक्ति किसे प्राप्त होगी ?

अस्तु ज्ञान हो जाने के बाद वृत्ति विषय व्यापार नहीं होना चाहिये ऐसा कहना मिथ्या ही है, क्योंकि देह बुद्धि अज्ञादि से दृढ़ होकर बैठी है । उसको नाश करने के लिये आत्म चिन्तन की मुख्य आवश्यकता है, क्योंकि पूर्व अभ्यास से बीच-बीच में देहाकार वृत्ति उठती रहती है । उसे तब रोकने के लिये ब्रह्माकार वृत्ति का होना परमावश्यक है ।

प्रश्न-४४ : एक बार जगत् को झूठा जान लिया तब फिर वृत्ति का लय हो जाने में क्या बाधा है ?

उत्तर : हे आत्मन् ! इस प्रकार पूर्णतया वृत्तियों का लय तो कल्प के अन्त तक होने का नहीं है । ज्ञान होने के बाद भी प्रारब्ध शेष होने तक देह रहेगा एवं जिस-जिस भोग का प्रारब्ध है, उस-उस भोग व्यापार में आना ही पड़ेगा । जीव जब व्यापार में आता है तब वहाँ का अभिमान जकड़ लेता है । तब उन भोग में सत्यत्व बुद्धि हो जाती है और ज्ञान निष्फल हो जाता है । यदि कहो कि जब प्रारब्ध से देह बुद्धि जाग जावेगी तो उस समय आत्म विचार द्वारा यह सब मिथ्या है ऐसा विवेक कर लेगें । तो फिर इतना कष्ट कर वृत्ति निरोध करने का फल विशेष क्या हुआ ? यदि अन्त में ज्ञान विचार का ही अवलम्बन ग्रहण करना पड़ा, तब फिर वृत्ति निरोध का बिना कष्ट उठाये आत्म ज्ञान का अभी से श्रद्धा पूर्वक क्यों न आदर किया जावे जो जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति का हेतु है ?

अतः वृत्ति का निरोध करना उचित नहीं है, बल्कि सब कुछ व्यापार होते हुए वृत्ति दृश्य में अहंकार न कर द्रष्टा, साक्षी की ओर मुड़ चले तो उसी से देह बुद्धि का क्षय होगा । इस ज्ञान विचार को छोड़ वृत्ति निरोध

से वृत्ति का क्षय नहीं होगा । वृत्ति जब भी जागेगी तब वह द्वैत दुःख ही प्रदान करने वाली होगी ।

अज्ञानकाल में जैसी दृढ़ बुद्धि देहाभिमान में थी, उसी प्रकार ब्रह्मात्म बुद्धि अर्थात् ''मैं ब्रह्म हूँ'' दृढ़ करनी चाहिये । यह सिद्धि कुछ काल निरन्तर अभ्यास करने से होगी । अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति का बारम्बार चिन्तन, मनन ही करना होगा । प्रारब्ध वशात् देह चाहे जैसी प्रवृत्ति में पड़े किन्तु उन क्रियाओं के होने पर भी उनमें अहं स्फूर्ति उत्पन्न न होने पावे । इस प्रकार जब तक दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान न हो, वहाँ तक बारम्बार सतत अपने द्रष्टा साक्षी आत्म भाव का दोहराते रहना चाहिये । जिससे असत्य में सत्य बुद्धि न हो एवं सत्य में मिथ्या बुद्धि न हो । देह बुद्धि की तरह स्वप्न में भी ब्रह्म बुद्धि बनी रहे ऐसी दृढ़ निष्ठा हेतु चिन्तन करना चाहिये ।

वृत्ति लय के साक्षी रूप अपने को जानने के बाद भी प्रारब्ध पर्यन्त वृत्ति की आवश्यकता है । अज्ञानी ही वृत्ति निरोध कर जड़वत् शरीर को नष्ट करना चाहेगा तो भी परिश्रम व्यर्थ जावेगा; क्योंकि देह तो प्रारब्ध भोगने हेतु ही प्राप्त हुआ है । वह आपको शांन्त कहाँ बैठने देगा ? यदि चुप पड़े रहने से ही कल्याण हो जाता तो सुषुप्ति में न कोई द्वैत विषय भासित होता है न वृत्ति, किन्तु प्रारब्ध भोगने हेतु पुनः जाग्रत में ला गिरा देता है । भ्रान्ति जाल में फंसा अज्ञानी जीव ही वृत्ति लय के लिये साधन कर कष्ट स्वीकारता है, ज्ञानी नहीं । पूर्ण ज्ञानी सन्तों को स्वरूप बोध हो जाने के पश्चात् भी देह निर्वाह एवं लोक कल्याणार्थ वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है तभी तो वे शिष्य समुदाय एवं श्रद्धालु प्रेमीजानों को उपदेश कर गति प्रदान कराते हैं ।

ज्ञान होने के बाद वृत्ति की जरूरत नहीं पड़ती होगी ऐसा मानना मात्र भ्रम है । ऐसा कभी नहीं हुआ कि देहधारी वृत्ति बिना जड़वत् बना रहता होगा । जिसे जड़भरत कहते हैं उसने भी राजा रहुगण को उपदेश किया एवं शुकदेव परमहंस ने परिक्षित् को भागवत् धर्म की शिक्षा प्रदान की ।

अस्तु वृत्ति के होते हुए भी उसका मिथ्यापन स्मरण में रखना चाहिये । यह निश्चय करना चाहिये कि मैं तो इन सब मिथ्या देह संघात् का द्रष्टा अखंड एकरस आत्मा ही हूँ ।

हे आत्मन् ! तू जो ज्ञान के बाद पुनः देहाकार वृत्ति से डरना है तो तेरे दृढ़ ज्ञान का लाभ क्या ? क्या जाग्रत ज्ञान उस वक्त गहरी निद्रा में सो जावेगा, उसका लोप हो जावेगा ? जिसको आत्म ज्ञान हो गया वह विषय चिंतन के समय उसमें मिथ्यापना निश्चय करता है । जिसे विषय में भोक्ता बुद्धि एवं सत्यत्व बुद्धि ही उदय नहीं होती तो फिर उस साक्षी पुरुष को व्यवहार अनर्थ रूप कैसे हो सकेगा ?

देह से अन्तःकरण पर्यन्त जिसने मिथ्या रूप जान लिया उसे फिर सविकल्प वृत्ति का निरोध करने की कोई आवश्यक्ता नहीं । केवल वृत्ति निरोध मात्र से आत्म साक्षात्कार मुक्ति प्राप्त हो जाती होगी, ऐसा मानना भ्रान्ति ही है । वृत्ति के रहते हुए ज्ञान द्वारा निर्विकल्पता प्रकट हो जाती है । निर्विकल्पता के लिये वृत्ति लय करने की आवश्यकता नहीं है । जैसे स्वर्ण बोध के लिये अलंकार नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, वह वैसे ही प्रतीत होता रहता है ।

सविकल्प संप्रज्ञात समाधि के अभ्यास से ही निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है । सब समय ''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'' इस सविकल्प चिन्तन से श्रेष्ठ अन्य चिन्तन निर्विकल्प समाधि के लिये नहीं है । जिनको दृढ़ बोध नहीं हुआ ऐसे मंदाधिकारी जाग्रत से निद्रा तक यथा सम्भव निरन्तर स्वरूप स्मरण करते रहना चाहिये ।

प्रश्न-४५ : सविकल्प समाधि के क्या भेद है ? कृपया विस्तार से समझाइये ?

उत्तर : दृश्यानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध इस प्रकार सविकल्प समाधि

के दो भेद है । दृश्यानुविद्ध समाधि के दृढ़ अभ्यास से निर्विकल्प दशा प्राप्त हो जाती है ।

दृश्यानुविद्ध समाधिः- इस समाधि को साधने के लिये किसी समय, देश, आसन, मुद्रा, वर्ण, आश्रम की अपेक्षा नहीं है । सब दैहिक व्यवहार होते हुए उन्हें दृश्य एवं अपने को द्रष्टा साक्षी भाव से देखते रहने का अभ्यास करना चाहिये । यह सब दृश्य मिथ्या है किन्तु इन सभी दृश्यों में एक मात्र मैं द्रष्टा ही अन्वयता के कारण सत्य हूँ । फिर उन-उन दृश्य पदार्थों के नाम रूप की सत्यता को बुद्धि द्वारा हटा देने से अस्ति-भाति प्रिय रूप ब्रह्म तत्त्व ही शेष रहता है । उसमें भी ओत-प्रोत भाव से अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप आत्म ब्रह्म का निश्चय करें ।

जो अस्ति रूप यह जगत् है, वह मेरा ही सत रूप का विवर्त है । जो भाति रूप जगत् प्रतीत होता है, वह मेरे ही चेतन का विवर्त है । तथा जो पदार्थ प्रिय-रूप सुख-रूप अनुभव में आता है, वह मेरे ही आनन्द रूप का विवर्त है । इस प्रकार समस्त विश्व मुझ सच्चिदानन्द का ही विवर्त रूप है । जैसे मंद अंधकार में पड़ी रस्सी में सर्प की प्रतीति रज्जु का ही विवर्त रूप है । क्योंकि रस्सी पर सर्प का नाम रूप विकार आया ही नहीं, इसलीये अंधकार में जो भ्रम दिखता है वह प्रकाश होते ही विलीन हो जाता है । इसी प्रकार न हुआ संसार अज्ञान दोष के कारण मुझ अधिष्ठान आत्मा पर नाम रूप में भासित होता है, किन्तु सत्गुरु द्वारा ज्ञान प्रकाश होते ही तत्काल निवृत्त हो जाता है । समस्त वृत्तियों के लय का जो साक्षी स्वयं प्रकाश पर ब्रह्म है वह मैं ही सच्चिदानन्द आत्मा हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है । ब्रह्म किसी आकार वाला नहीं है, इसीलिये निराकार है । और इसी से ब्रह्मात्मा अप्रमेय है ।

नाम-रूप जगत् तो रस्सी पर सर्पवत् मिथ्या ही है । इस प्रकार निश्चय हो जाने पर फिर जगत् भासित होने पर भी उसमें नाम रूप की

सत्यता बुद्धि आरोपित न करे । जो अस्ति पना है, वह मैं ही सत रूप हूँ । जो भाति पना है, वह मैं ही चित् रूप हूँ और जो प्रिय पना है वह मैं ही आनन्द स्वरूप हूँ इस प्रकार जगत् की सत्ता नहीं किन्तु सर्वत्र मैं एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सब रूपों में विद्यमान हूँ । नाम रूप जगत् पैदा ही नहीं हुआ तो उसका त्याग ही क्या करना ? फिर भला उसे विक्षेप का हेतु भी क्या ? जब अन्य कुछ हुआ ही नहीं ।

ज्ञानी देखते हुए भी नहीं देखता है अर्थात् किसी भी नाम रूप में सत्ता आरोपित नहीं करता कि ''यह अमुक है'' ''वह अमुक है'' ऐसी उसकी भावना ही नहीं होती है, किन्तु यह सब नाम रूप से भिन्न मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ इस प्रकार दृश्य देखते हुए भी उनमें नाम-रूप की सत्यता नहीं होती । सब कुछ दृश्य दिखने पर भी एक अद्वय रूप समाधि ही है । इसे दृश्यानुविद्ध समाधि कहते है ।

हे आत्मन् ! इस समाधि अभ्यासी को यदि एक कीट, पतंगा, चींटी, हाथी, मनुष्य. विष्णु आदि देव ही क्यों न दिखाई पड़े वह उनमें छोटे-बड़े श्रेष्ठ-निकृष्ठ का भेद नहीं देखता, बल्कि सबको एक सच्चिदानन्द निज आत्म रूप ही जानता है । जब मृगजल ही सत्य नहीं तब उस जल में रहने वाले मगर, मछलियों के छोटे बड़े का भेद कहाँ ? जैसा विष्णु वैसा ही कीट, पतंगा, जैसा आकाश वैसा ही कण-तृण । जहाँ भी उसकी दृष्टि पड़ती है, वृत्ति बनती है, वहाँ वहाँ सम ब्रह्म का ही अवलोकन करती है -

''यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधया''

उसे एक सच्चिदानन्द आत्म ब्रह्म का ही अपरोक्ष ज्ञान होता है अर्थात् यह सब मैं ही हूँ ।

हे आत्मन् ! नाम रूप की फुरना अन्तःकरण में होते ही उसे वहाँ से विवेक द्वारा दूर कर देना चाहिये कि नाम रूप अलंकारों में स्वर्ण ही सत्य है

। चूड़ी, चैन, अँगूठी नहीं है, स्वर्ण ही है । इस प्रकार समस्त दृश्य में एक निजात्मा का ही निश्चय रूप में दर्शन करना चाहिये । फिर देखने न देखने का आग्रह छोड़ जो दिखाई पड़ता है, उसे सहज निजात्म रूप में अर्थात् सच्चिदानन्द रूप जानना चाहिये । चाहे देव, दैत्य या दानव हो, चाहे पशु पक्षी या मानव हो उन सब विभिन्न नाम रूप में मैं ही एक सच्चिदानन्दात्मा हूँ । इस प्रकार अपने शरीर पर महत्व दृष्टि न रख सब दृश्यों में एक मात्र सच्चिदानन्द का ही अनुभव करता है । इस प्रकार देखने से ब्रह्म भावना अखंड बन जाती है इसी का नाम दृश्यानुविद्ध समाधि है । ऐसे साधक के लिये घर तथा वन, ग्रहण तथा त्याग समाधि रूप ही है, सदा एकान्त वासी ही है । भले ही व्यवहार में भीड़ ही क्यों न बनी रहे किन्तु निश्चय वृत्ति में एक सच्चिदानन्द भावना ही रहे । यही दृश्यानुविद्ध सहज समाधि है । इस प्रकार की एक निश्चय रूप समाधि ज्ञानी को सहज ही होती है अज्ञानी को निरोध रूप समाधि विक्षेप रूप ही होती है ।

प्रश्न-४६ : शब्दानुविद्ध समाधि किसे कहते है ?

उत्तर : इस शब्दानुविद्ध समाधि में एकान्त देश, मुद्रा, ध्यान आसन आदि साधने की जरूरत नहीं होती है । देह प्रारब्ध प्रेरणा से चाहे जैसी क्रिया करता रहे तब भी इस समाधि का अभ्यास अच्छी प्रकार से हो सकता है । जैसी माया चंचल तथा नाम रूपात्मक है, उसी प्रकार का उसका कार्य रूप जगत् भी चंचल, विकारी, नाशवान् एवं नाम रूपात्मक है । इस समस्त दृश्यमान् अध्यस्त जगत् का एक अधिष्ठान सच्चिदानन्द आत्म ब्रह्म ही सत्य है । जगत् में अस्ति पना भाति पना तथा नाम रूपात्मक जगत् में प्रिय पना मुझ सच्चिदानन्द आत्म ब्रह्म का ही विवर्त मात्र है ।

जैसे मिट्टी के पिंड में मिट्टी व्याप्त है उसी प्रकार मिट्टी से निर्मित समस्त कार्य रूप आकारों में भी एकमात्र मिट्टी हो व्याप्त है उसी प्रकार माया में अस्ति, भाति, प्रियता ही एकमात्र है । उसके अलावा उसमें नाम रूप की

सत्यता किंचित् भी नहीं है । तब उससे उत्पन्न स्थूल, सूक्ष्म देह संघात में मन, बुद्धि मानना भी उसी प्रकार कल्पित है जैसे मिट्टी में घड़ा, सकोरा, खप्पर, ईंट, दिवार, चूल्हा, दीपकादि कल्पित है । मिट्टी के पिंड में ही जब मिट्टी के अलावा अन्य कोई नाम रूप नहीं है, तब उस पिंड के कार्य रूप नाना आकारों में नाम रूप कहाँ से सत्य हो सकेंगे ? अर्थात् कदापि नहीं । इस प्रकार जब माया में ही अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म के अलावा कुछ अन्य नहीं हुआ तब उसके कार्य रूप अन्तःकरण, इन्द्रिय, प्राण एवं देहादि के नाम रूप कहाँ से द्वैत रूप हो गये ? अर्थात् एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है एवं शेष सभी नाम रूप कल्पित विकार है ।

माया में अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ नहीं है । तब यह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रिय, प्राण, देहादि समस्त अध्यस्त पदार्थ अपने अधिष्ठान अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म रूप ही है । उनसे भिन्न यहाँ किंचित् भी कुछ नहीं है । जो अन्य को देखता है वह अंधा है, वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त करता रहेगा । एक अधिष्ठान सच्चिदानंद आत्म ब्रह्म पर ही नाना नाम रूप कल्पित हुए हैं । मिट्टी में घड़ा, दीपक, इँटा नहीं है किन्तु घड़ा, दीपक, इँटा आदि कल्पित नामों में एकमात्र मिट्टी ही है । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक युक्ति से नाम रूप जगत् ब्रह्म में असत् ही सिद्ध होते हैं । समस्त विषयों में जो नाम रूपादि व्यर्थ भासित होते हैं उनमें एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही सत्य है ऐसा निश्चय की आँख से देखना ही शब्दानुविद्ध समाधि है ।

इस समाधि के अभ्यासी को किसी भी प्रकार के दृश्य से संयोग होने पर या व्यवहार होने पर उसमें नाम, रूप की सत्यता प्रकट नहीं होती किन्तु एक ब्रह्मात्मा ही जानने में आता हैं । वह बोलता हुआ, चलता हुआ, सूँघते-चखते सोते हुए या जागते हुए या अन्य द्वारा सभी प्रकार की क्रियाओं के होने पर भी उनमें संघात नाम-रूप देह को नहीं देखता बल्कि अपने या

अन्य के देहादिक क्रियाओं में एकमात्र ब्रह्मात्मा के ही दर्शन करता है ।

जब जहाँ नाम-रूप द्वैत भासते लगे वही नाम रूप माया की असत्यता एवं अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्मरूपता की सत्यता का अनुभव स्मरण करना चाहिये । प्रथम नाम रूप विक्षेप उठेगा, किन्तु धीरे-धीरे अभ्यास के बढ़ने से विक्षेप घटने लगेगा । फिर छोटे-बड़े नाम रूप का भेद टूट कर एक ब्रह्म का ही निश्चय बुद्धि में दृढ़ होने लगेगा । फिर भले वह शब्दानुविद्ध समाधि हो या दृश्यानुविद्ध हो ।

दृश्य का स्मरण न होकर, अखंड एकरूप ब्रह्मात्मा ही जब अनुभव में आता है इसी का नाम दृश्यानुविद्ध समाधि है । पदार्थ दिखने पर नाम रूप की सत्यता का विवेक द्वारा बाध कर अस्ति, भाति, प्रिय अखंड आत्मा का स्मरण उसी स्थान पर करना यह अन्तर प्रदेश की दृश्यानुविद्ध समाधि है तथा नाम रूप चंचल पना मैं हूँ ऐसा स्मरण छोड़ मैं अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्मात्मा हूँ ऐसा स्मरण शब्दानुविद्ध आंतरिक समाधि है ।

प्रश्न-४७ : बाधितानुवृति क्या है ?

उत्तर : भ्रान्ति से प्रतीत होने वाली कल्पित वस्तु यथार्थ ज्ञान से बाधित हो जाने पर भी आभास रूप पुनः दिखाई पड़ना बाधितानुवृत्ति कहलाता है । जिस प्रकार किसी पुरुष को दोषयुक्त नेत्र से दो चन्द्र दिखायी देते हैं, परन्तु स्वस्थ दशा में उसने यह दृढ़ अनुभव किया था कि एक चन्द्र है । इसलिए दोषयुक्त नेत्र दशा में हृदय से दो चन्द्र नहीं मानता है । नेत्रों द्वारा दो चन्द्र दिखने पर भी उन्हें असत् ही मानता है । इसी प्रकार अविद्या अज्ञान दोष से अध्यस्त हुई दृश्य जगत् प्रतीत, सद्गुरु द्वारा यथार्थ अखण्ड ब्रहम ज्ञान हो जाने पर भी मिथ्या ज्ञानजन्य संस्कार के निमित्त से पुनः प्रतीति होती रहती है वही बाधितानुवृत्ति है ।

प्रश्न-४८ : ब्रह्म का साक्षात् अपरोक्ष पना कैसे जाने ?

उत्तर : घट पटादि पदार्थ सम्मुख है-अपरोक्ष है परन्तु रूप द्वारा उनका ग्रहण होता है याने रूप द्वारा अपरोक्ष है । बिना रूप के नहीं । रूप भी अपरोक्ष तभी होता है जब प्रकाश हो, बिना प्रकाश के रूप का भी अपरोक्ष (दर्शन) नहीं होता । परन्तु समस्त प्रकाश भी तभी अपरोक्ष होता है जब नेत्र हो, बिना नेत्र के सम्भव नहीं । नेत्र भी अपना रूप दर्शन कार्य तभी करते हैं जब मन उसके साथ संयुक्त हो । अतः नेत्र का अपरोक्ष मन द्वारा ही होता है । मन की अपरोक्षता मुझ आत्मा की सत्ता स्फूर्ति द्वारा होती है किन्तु स्वयं प्रकाश होने से मैं आत्मा तो बिना किसी इन्द्रिय के साक्षात् अपरोक्ष ही है ।

प्रश्न-४९ : ज्ञानी को आत्मा की सदा स्मृति रहती है या नहीं ?

उत्तर : स्मरण कर्ता की स्मृत्ति नहीं हो सकती । नेत्र जो सब दृश्य को देखता है उसी नेत्र को दृश्य की तरह नहीं देखा जा सकता । अनुमंता की अनुमिति नहीं हो सकती । सबका अनुमान करने वाला अद्वितीय चेतन स्वयं किसी जड़ इन्द्रिय के अनुमान का विषय नहीं हो सकता । क्योंकि स्मरण कर्ता अनुमंता का अपना आत्मा ''मैं हूँ'' रूप से अपरोक्ष है । फिर स्मृति सदा परोक्ष की हुआ करती है जो एकबार मिलकर दूर हो गया हो । अपरोक्ष की स्मृति नहीं हुआ करती । इसलिए आत्मा का स्मरण अथवा अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि यह मिलने बिछुड़ने वाला पदार्थ नहीं है । इसका अपरोक्ष ज्ञान गुरु द्वारा ''तत्त्वमसि'' महावाक्य से ही ''अहं ब्रह्मास्मि'' रूप में होता है । जो ज्ञान होने के बाद स्मृति मानी जाती है वह बोध की पुनरावृत्ति है किन्तु आत्मा की स्मृति नहीं है । इसलिए ज्ञानी के लिए आत्मा की स्मृति विस्मृति का प्रश्न ही असंगत् है ।

प्रश्न-५० :ब्रह्मज्ञानी की समाधि कैसी होती है ? तथा उसका व्यवहार कैसे होता है ।

उत्तर : **'जड़ चेतन जग जीवयत सकल राम मयजान'**, 'निज प्रभु मय देखहि जगत' समस्त चराचर जगत् ब्रह्मस्वरूप होने से समाधि में

स्वभाव से ही स्थित है कभी भी व्युत्थान दशा को प्राप्त नहीं होता । कीट पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, राक्षस तथा जड़ वृक्षादि सब अपने-अपने निर्विकल्प दशा रूप ब्रह्म समाधि में स्वभाव से ही स्थित है । जब जड़ ही ब्रह्म समाधि से नहीं डिगता तब स्वयं चेतन कैसे ब्रह्म समाधि से पृथक हो सकेगा ? वास्तविक स्वरूप अज्ञान के कारण ही समाधि रहते हुए भी उसमें विक्षेप का, व्युत्थान का भ्रम पैदा होता है । ज्ञानी ही नहीं स्वयं अज्ञानी भी ब्रह्म समाधि याने आत्मा से भिन्न नहीं है । अज्ञान से ही अक्रिय में क्रिया का भ्रम हो रहा है । अजन्मा में जन्म का तथा अरूपी में नाम, रूप का भ्रम हो रहा है । इस प्रकार सभी जीव समाधि रूप आत्मा में ही जीते हैं । सभी ज्ञानी व अज्ञानी का व्यवहार भी समाधि स्वरूप आत्मा के आधार से ही सम्पन्न होता है । बिना समाधि के लौकिक वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो सकता । जैसे यह जल है ऐसा अज्ञानी का कथन समाधि रूप चित्त वृत्ति की एकाग्रता के द्वारा ही होता है, समाधि रूप चित्तवृत्ति के बिना नहीं हो सकता । फिर ज्ञानी के निश्चय में तो अधिष्ठान आत्मा से पृथक् कुछ निश्चय ही नहीं है ।

''यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः''

इसलिए ज्ञानी की प्रत्येक क्रिया जिसे विक्षेप भी कह सकते हैं वह सब समाधि रूप ही है । अज्ञानी द्वारा अपने नाक, मुंह, आँख, कानादि इन्द्रिय के प्राकृतिक वेग को बन्द रूप समाधि बहुत काल के दृढ़ अभ्यास द्वारा अल्प काल के लिये सिद्ध हो जावे तो भी वह विक्षेप ही कहलावेगा । क्योंकि जो समाधि पहले से लगी हुई नहीं है उसको कोई कठिन अभ्यास द्वारा लगा भी नहीं सकता । फिर जिस नाक, कान, आँख, मुँख को जन्म से ही प्रकृति ने खुले रखे हैं यदि उनको अभ्यास कर कुछ क्षण, घन्टे, दिन, माह रोक लेने से वह सहज समाधि नहीं कही जा सकती । तथा स्वरूप से लगी हुई नित्य सहज समाधि से कोई हटा भी नहीं सकता । आत्मा सदा अधिष्ठान रूप से अचल होने से समाधिस्त ही है, उसे कोई चल रूप नहीं

कर सकता । अज्ञानी लोगों को अचलात्मा में ही चंचलता की भ्रान्ति हो गई है इसीलिए वह हठ योग रूप समाधि की चेष्टा करते हैं । कोई भी पुरुष अपने चिन्मात्र सत्ता स्वरूप में स्थिति रूपी समाधि से हिल नहीं सकता । केवल अज्ञान से आत्मा में अनात्मा का अध्यास है एवं अन्तःकरण का धर्म आत्मा में आरोपित कर दुःखी होते रहते हैं । यह अविचार से उत्पन्न दुःख केवल आत्म विचार द्वारा ही निवृत्त हो सकता है, केवल इन्द्रियों के द्वारों को बंद करने से नहीं होगा । अखंड अद्वैत आत्मा अपना आप ही है । उसमें कभी द्वैत हुआ ही नहीं । यह परम निश्चय रूप समाधि है । जहाँ अपने से पृथक् कोई न देखता है न कुछ अन्य श्रवण ही करता है वही भूमा है वही आनंद रूप आत्मा है । छान्दोग्य-उपनिषद में भी कहा हैः-

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति स भूमा । (७/२४/१)

जो उत्पत्ति नाश रूप है वह अनात्मा है । सत् और असत् वस्तु दोनों की उत्पती तथा नाश नहीं हो सकता; क्योंकि सत् तो वह है जो सदैव विद्यमान है तथा असत् वह है जो कभी नहीं है । प्रतीति सदा सत की ही होती है । नाम, रूप की प्रतीति नहीं होती केवल अधिष्ठान वस्तु पर अध्यास (आरोप) मात्र ही है । इसलिए निश्चय करके सर्व ब्रह्म ही है जैसे कि छान्दोग्य-उपनिषद में कहा हैः-

''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (३/१४/१)

यह श्रुति का तात्पर्य जिसने जाना है वही ज्ञानी है तथा उसका समस्त जीवन समाधिस्त है ।

विवेक द्वारा दृढ़ विचार करना चाहिये कि अविचार से मन और बन्ध है । विचार से बन्धादि नहीं है । विचार यह है कि ''यह रूप'' सब भ्रम से ही कल्पित है । अतः जिज्ञासु को चाहिये कि वह ''यह रूप'' से कुछ न देखें । समस्त प्रतीतियों के आधार रूप तुम्ही आत्म सत्ता स्फूर्ति

स्वरूप हो । देश, काल, वस्तु यह रूप से कुछ नहीं है, यहाँ, वहाँ, तब, अब केवल अहं ही अहं है । जैसे किसी ऊँची चोटी को आप दूर से देखते है पर उसी पर आरूढ़ हो जाने पर चोटी नहीं दिखती केवल आप ही दिखते है । इसी आत्मा से पृथक् मन, विक्षेप, व्यवहार, वस्तु दिखती है किन्तु आत्मभाव में स्थित होने पर केवल आप ही सबको सत्ता स्फूर्ति देने वाले रहते हैं तब अन्य व्यवहार, वस्तु, दुःख, बन्धन या मन कुछ नहीं है । सुख स्वरूप आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । केवल वेदान्त ज्ञान ही आपको ऐसी अभेद मंगलमयि द्रष्टि देकर भेद दृष्टि को निवृत्त कर सकता है । यही दुःख निवृत्ति है । शेष अद्वितीय अखण्ड़ आनन्द स्वरूप अपना अनुभव है । 'आप' केवल आनन्द है जो अज्ञान से, दुःख से दबा हुआसा लगता है । वास्तव में दुःख कुछ है ही नहीं । अध्यास मात्र है । आनन्द स्वरूप आत्मा से भिन्न सुख भी कुछ नहीं होता । इसलिए तुम सर्वदा सच्चिदानन्द आत्मा ही हो ऐसा दृढ़ निश्चय ही स्थित प्रज्ञ रूप सहज समाधि है ।

प्रश्न-५१ : अज्ञान अनादि है अथवा सादि है ?

उत्तर : यह अज्ञान अनादि है । यदि इसे सादि कहे तो उसका कोई कारण मानना होगा । तथा कारण की निवृत्ति हुए बिना यह कार्य रूप अज्ञान लाख प्रयत्न करने पर भी अपने आप निवृत्त नहीं होगा । अतः इस अज्ञान का कोई कारण कहीं प्रसिद्ध नहीं है । इसलिए अज्ञान अनादि है । इस अनादि अज्ञान की आत्यान्तिक निवृत्ति मात्र स्वरूप ज्ञान से ही होती है । यदि स्वरूप ज्ञान होने के बाद भी लेशाविद्या स्वीकार करें तो ज्ञान का फल ही क्या हुआ ? ज्ञान से तो अज्ञान का अत्यन्त निवृत्ति रूप बाध होता है, ध्वंस नहीं । क्योंकि ध्वंस में तो घट के ध्वंस की तरह परमाणु शेष रहते हैं ।

ब्रह्माकार वृत्ति रूप ज्ञान का फल साक्षी भाव की जाग्रति है । वह साक्षी स्वरूप से निरावरण है । उसमें अज्ञान का लेश भी नहीं है । ज्ञान से पूर्व अज्ञानी की दृष्टि से आत्मा में अज्ञान था और बोध के बाद अज्ञान का

बाध हुआ मानता है । वास्तव में तो साक्षी के अपने आप नित्य निरावरण होने से उससे अज्ञान की निवृत्ति भी नहीं हुई । क्योंकि उसमें बोध के पूर्व अज्ञान काल में भी अज्ञान नहीं था ।

सत्य तो यह है कि आत्मा में न हुए अज्ञान का स्वरूप ज्ञान से मिथ्यात्व निश्चय होता है । बोध के पूर्व भी आत्मा में अज्ञान अत्यन्त निवृत्त ही था । परन्तु अध्यास के वेग से ही साक्षी का शुद्ध स्वरूप प्रतीत नहीं हो पा रहा था । अब बोध से भी निश्चय ही अत्यन्त निवृत्त की ही निवृत्ति हुई । क्योंकि कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान रूप ही होती है । जैसे जल के अज्ञान से जल में लहर प्रतीत होती है एवं अधिष्ठान जल के बोध हो जाने पर जल से लहर भिन्न प्रतीत नहीं होती ।

''पश्यन्नपि न पश्यति''

विद्वान् ब्रह्मरूप से सर्वदा दर्शन करने के कारण जगत् को देखते हुए भी नहीं देखता । ज्ञान से पूर्व भी ब्रह्म ही सर्व है । ज्ञान का फल अब्रह्मत्व की भ्रान्ति का केवल बाध मात्र ही है । ब्रह्माकार वृत्ति का नाम ज्ञान है । उससे केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है । ब्रह्म तो ज्यों का त्यों असंग, निर्विकार, कूटस्थ , एकरस ही है । वह प्रवृत्ति अज्ञान तथा निवृत्ति ज्ञान में एकरस ओत-प्रोत एवं पूर्ण है ।

प्रश्न-५२ : वेद का तात्पर्य कर्म, उपासना अथवा ज्ञान है ?

उत्तर : अद्वैत ब्रह्मज्ञान ही वेद का एकमात्र तात्पर्य है । कर्म या उपासना चित्त शुद्धि का उपाय विशेष है । अतः ज्ञान और कर्म अथवा ज्ञान और उपासना में स्वरूपतः सम समुच्चय असम्भव है । मुक्ति के लिए एक व्यक्ति को एक ही काल में ज्ञान और कर्म या ज्ञान और उपासना परायण नहीं होना चाहिये । कर्म और उपासना द्वारा चित्त शुद्धि होने पर ''अहं ब्रह्मास्मि'' या ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मात्म ज्ञान से जीव भाव की

मुक्ति होती है । ''न स पुनरावर्तते'' उसका पुनर्जन्म नहीं होता । केवल कर्म या उपासना के द्वारा साक्षात् रूप से मुक्ति नहीं होती । फिर जड़, पाषाण, लकड़ी, कागज व धातु की बनी मूर्ति की सेवा पूजा से चित्त शुद्धि होकर परम पद की प्राप्ति सम्भव है तो जीवित मनुष्य को नारायण समझकर उनकी सेवा करने से चित्त शुद्धि क्यों न होगी ? मूर्ति में ईश्वर है तो मनुष्य में क्यों नहीं होगा ?

प्रश्न-५३ : कर्म द्वारा मोक्ष प्राप्त होने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर : अनित्य अर्थात् नाशवान कर्मों से अविनाशी आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती । मुण्डक उपनिषद् में कहा है :-

परीक्ष्य लोकान् कर्म चित्तान् ब्राह्मणोः ।
निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन ॥

अर्थात् वेदविद् ब्राह्मण कर्म से प्राप्त लोकों की परीक्षा करके उसका नश्वर फल देखकर कर्म एवं कर्म से मिलने वाले लोकों से मन में वैराग्य उत्पन्न करें क्योंकि नित्य प्राप्त अकृत मोक्ष की प्राप्ति अनित्य कर्मों द्वारा नहीं हो सकती । अग्नि उष्णता की तरह आत्मा मुक्त ही है । आत्मा नित्य होने से उसका मुक्त स्वभाव भी नित्य है ।

''क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति'' ९ / २१

कर्म के द्वारा जिस स्वर्गादिक फल की प्राप्ति होती है, स्वर्ग, सुख, भोग के पश्चात् वहाँ से जीव को गिरना भी होगा । जिसका संयोग होगा, उसका वियोग भी होगा । जिसका जन्म होगा, उसकी मृत्यु निश्चय ही होगी । यदि कर्मों द्वारा मोक्ष प्राप्त होना माने तो उस मोक्ष का भी विनाश निश्चय ही होगा ।

मनुष्य अज्ञान से अपने को बद्ध मानता है । आत्मा का स्वरूप

मुक्त होने से मुमुक्षु के लिए मोक्ष कोई नूतन वस्तु उत्पन्न नहीं होती । केवल चित्त को आत्मा के मोक्ष स्वरूप का ज्ञान नहीं था । वह गुरु उपदेशों द्वारा ज्ञात हो गया कि ''मैं मुक्त ही हूँ'' । अज्ञान के बादल बुद्धि को ढके रहने के कारण आत्मा रूपी सूर्य के उपस्थित रहने पर भी उसका बोध नहीं हो रहा था । किन्तु बादलों के हट जाने से सूर्य के दर्शन की तरह गुरु कृपा से बुद्धिसे अज्ञान बादल हटते ही आत्मा सोऽहम् रूप में प्रकाशित हो जाती है ।

''तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्''

कठोप १/२/२८

इस प्रकार उक्त प्रमाण से कर्म की हीनता प्रतीत होती है । परन्तु वेद के कर्म भाग में ज्ञान की हीनता बताने वाला एक भी प्रमाण नहीं मिलता है ।

जहाँ कर्मकाण्ड के मन्त्र आये हैं वे केवल जीव के मलदोष को दूर करने के साधन रूप है । मुक्ति प्राप्ति के लिए केवल कर्म अपेक्षित नहीं है । ज्ञान से ही सिद्ध मोक्ष की अनुभूति होती है । जैसे अल्प अन्धकार में किसी को रस्सी में सर्प का भ्रम हुआ एवं उससे वह बहुत डरा । उसका हृदय कम्पित होने लगा । वह वहाँ से उल्टा वापिस दौड़कर भागना चाहता था इतने में एक व्यक्ति (आप्त पुरुष) प्रकाश लेकर आया और उसे दिखा दिया कि वह सर्प नहीं, रस्सी है । इससे उसका डर जाता रहा, दुःख दूर हुआ और उसको अपना पूर्व सुख प्राप्त हुआ । यहाँ सर्प भय से मुक्ति में किसी प्रवृत्ति या कर्म की आवश्यकता नहीं हुई । यहाँ यथा स्थित वस्तु के ज्ञान से ही दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हुई । इसी प्रकार उपनिषद् के ''सत्यं ज्ञानं अनन्त ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि'' आदि वाक्यों के ज्ञान से सांसारिक समस्त दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप परमार्थ की सिद्धि होती है । यहाँ भी मुक्ति प्राप्ति में कर्म प्रवृत्ति या उपासनादि की अपेक्षा नहीं है । केवल ज्ञान द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । ''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'' ''ऋते

ज्ञानान्न मुक्तिः'' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती । यह वेद का निश्चित सिद्धान्त है ।

रामायण में भी कहा हैः-

धर्मते विरति जोगते ज्ञाना ।
ज्ञानमोक्षप्रद वेद बखाना ।।

प्रश्न-५४ : जीव का वास्तविक सवरूप क्या है ? उसे किस प्रकार आत्म चिन्तन करना चाहिये ?

उत्तर : मैं मनुष्य नहीं हूँ, देवता या यक्ष भी नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र भी नहीं, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी भी नहीं, मैं केवल निज बोध स्वरूप आत्मा हूँ ।

सूर्य जिस प्रकार लोक चेष्टा का कारण है । उसी प्रकार स्वयंप्रकाश परमात्मा मन, चक्षु, प्राण आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण है तथा सब प्रकार की उपाधियों से रहित आकाश तुल्य है । वह नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

अग्नि की उष्णता के समान नित्य चैतन्य ही जिसका स्वरूप है, जो निश्चल और अद्वितीय है । जिन्हें आश्रय करके जड़ प्रकृति तथा मन, प्राण, चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होती है, मैं वही नित्य ज्ञान स्वरूप आत्म हूँ ।

दर्पण में दृश्यमान मुख प्रतिबिम्ब जिस प्रकार यथार्थ बिम्ब मुख से पृथक् नहीं है । उसी प्रकार बुद्धि दर्पण में जो आत्मा का प्रतिबिम्ब रूप आभास जीव नाम से कल्पित हुआ है । वह जीव मुख्य बिम्ब मुझ चिदात्मा से भिन्न नहीं है और मैं वही नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ ।

दर्पण के अविद्यमान होने पर जिस प्रकार प्रतिबिम्ब अदृश्य होकर एकमात्र अपना मुख ही प्रतीत होता है । उसी प्रकार बुद्धि वृत्ति रूप दर्पण के

सुषुप्ति अवस्था में अविद्यमान होने से एकमात्र आत्मा ही शेष रह जाता है । वह चैतन्य साक्षी आत्मा ब्रह्म मैं ही हूँ ।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण के ठीक से कार्य करने मन्दगति से करने या कार्य क्षमता रहित होने के भाव-अभाव का मैं प्रकाशक हूँ मैं स्वयं किसी के द्वारा प्रकाशित नहीं होता क्योंकि मैं स्वयं प्रकाश नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ ।

विविध पात्रों के जल में प्रतिबिम्बित 'सूर्य की तरह' जो अद्वितीय पुरुष स्वयं प्रकाशित होते हुए अनेकों बुद्धियों के भीतर प्रतिबिम्ब रूप से प्रतीयमान होता है वही नित्य आत्मा मैं हूँ ।

''सर्वधी साक्षी भूतम्''

जिस प्रकार एक सूर्य एक साथ अनेक चक्षुओं को प्रकाश देकर प्रकाश्य वस्तुओं को दिखा देता है तथा जो सारी बुद्धि वृत्तियों का एकमात्र प्रकाशक है वह नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं ही हूँ ।

जिस प्रकार सूर्य प्रकाश से प्रकाशित होकर नाम, रूप, जगत् चक्षु द्वारा ग्रहण करने में समर्थ होता है उसी प्रकार सूर्य भी जिनकी ज्योति से प्रकाशित होकर चक्षु को भासित करता है वह स्वयं प्रकाश ज्योतियों का ज्योति नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार स्थिर और चंचल जल में विभिन्न रूप से प्रतीयमान होता है उसी प्रकार जो एक होकर भी स्थिर और चंचल अनेक प्रकार की बुद्धियों में अनेक रूपों में प्रतीत होता है । वह निर्विकार, कूटस्थ मैं ही नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ ।

जो सारे प्राणियों और वस्तुओं में व्याप्त है तथापि कोई वस्तु जिन्हें स्पर्श नहीं कर सकती, जो आकाश के समान असंग शुद्ध तथा व्यापक है वह निर्मल ज्ञान स्वरूप चिदाकाश मैं ही हूँ ।

मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि को बादलों द्वारा ढक जाने के कारण सर्व प्रकाशक सूर्य को मेघाच्छादन हुआ कहते हैं । उसी प्रकार अतिमूढ़ लोग बुद्धि को अज्ञान से ढका होने के कारण स्वयंप्रकाश आत्मा को बद्ध कहते हैं ।

जिस प्रकार एक ही बिजली शक्ति घरों, महलों, कारखानों, फेक्ट्रियों, गाँवों, शहरों में तथा विभिन्न बल्ब तथा यन्त्रों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार जिस एक शक्ति के द्वारा कीट, पतंग, पशु, पक्षी, राक्षस, यक्ष, किन्नर, देवता, ब्रह्मादिक प्रकाशित होते हैं वह एक अखंड़ नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

जैसे एक ही अदृश्य रस शक्ति भूमि में रहकर समस्त वृक्षों, पौधों, लताओं, वनस्पतियों, औषधियों, खाद्यान्नों, फूलों, रंगों तथा सुगन्धों को उनके गुण, स्वभाव एवं संस्कारानुसार उन्नति को प्राप्त करता है । उसी प्रकार समस्त देहों में विद्यमान जिस अदृश्य शक्ति से समस्त प्राणी अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव में प्रवृत्त होते है वह मैं ही सर्वाधार नित्य मुक्त आत्मा हूँ ।

प्रश्न-५५ : मन के होते हुए निर्विकल्पता कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर : हे निर्विकल्प स्वरूप आत्मन् ! फुरना-अफुरना अर्थात् संकल्प-विकल्प मन के धर्म हैं और शरीर पर्यन्त यह निश्चित रहेंगे । अतः असंग होकर अपने स्वरूप में मग्न रहना ही एकमात्र साधन है । आत्मा मन से पृथक् मन का साक्षी है, तब तो मन की स्थिति का अनुभव करता है । संकल्प और विकल्प के साथ मन का सम्बन्ध कल्पित है । जगत् का सुना हुआ पाठ ही सब मुमुक्षु रटते हैं कि मन बहुत चंचल है मन वश में नहीं होता आदि । पर यह नहीं सोचते की सत्ताहीन मन आत्मा में अध्यस्त हुआ है और अध्यस्त वस्तु जब कुछ नहीं हुआ करती, तब वह अपने अधिष्ठान आत्मा को कैसे विकारी कर सकेगी ? अर्थात् आत्मा को कोई हानि नहीं

पहुँचा सकती । इसलिए अपने वास्तव आत्म स्वरूप में सर्वदा स्थित रहकर जीवन मुक्ति का आनन्द अनुभव करो । कल्पित वस्तु की ओर दृष्टि कर चित्त को अशांत करने की जरूरत नहीं । अनुभव स्वरूप आत्मा पूर्ण है । सूक्ष्म, स्थूल, जड़-चेतन, उत्तम-मंद आदि कल्पित भाव आत्मा में आरोपित हुए है । वही आत्मा अपना आप है ।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण अपने आत्म समुद्र में तरंगों की तरह उठता-बैठता, आता-जाता है, आत्म समुद्र अपनी महिमा में अगाध गम्भीर रूप से स्थिर है । तरंग का उठना-बैठना किसी भी प्रकार अधिष्ठान स्वरूप समुद्र में विकार उत्पन्न नहीं कर सकता । अस्तु संकल्प-विकल्प अपने अनुभव स्वरूप आत्मा की लीला मात्र है । ''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'' ''नेह नानास्ति किंचिन'' द्वितीय वस्तु कभी नहीं हुई, न है, न होगी । मन भी कोई द्वितीय वस्तु नहीं है । किन्तु अनुभव (आत्मा) ही मन है, अनुभव ही जगत है, अनुभव ही परमात्मा है । इसलिए अनुभव ही अनुभव सर्व रूप है इस प्रकार अपने अनुभव स्वरूप को सर्वत्र देखकर सदैव मन के विकल्प से रहित शांत पद में स्थिति जानना उचित है । इससे भिन्न और कोई साधन या उपाय निर्विकल्पता हेतु नहीं है ।

प्रश्न-५६ : दुःख-सुख से मुक्ति किस विचार द्वारा होती है ?

उत्तर : हे मुमुक्षु ! तुम अपने वास्तविक स्वरूप का बारम्बार चिन्तन कर अपने को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से भिन्न निश्चय करो । सदैव देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के कर्मों का अपने को साक्षी जानो । अपने द्रष्टा, साक्षी आत्मस्वरूप को भूलकर अन्तःकरण के स्वभावों और देह, प्राण तथा इन्द्रियों के कर्मों को अपने कर्म एवं स्वभाव मानकर क्यों दुःख-सुख-राग-द्वेष के भागी बनते हो ? जितना काल शरीर में प्राणों का संयोग रहेगा उतने काल तक अन्तःकरण भिन्न-भिन्न संकल्पों और स्वभावों में प्रवृत्त रहेगा और इन्द्रियाँ भी अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होगी ही । केवल

सुषुप्ति अवस्था में बिना चेष्टा के ही इन्द्रिय व अन्तःकरण अपने कारण अज्ञान में लयता को प्राप्त हो जाता है । जाग्रत तथा स्वप्न में पुनः यह मन, बुद्धि, चित्तादि स्वभावानुसार प्रवाह रूप में प्रवृत्त रहते हैं । दुःख-सुख भी जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में ही प्रतीत होता है । सुषुप्ति में दुःख का अभाव है । इसलिए सिद्ध हुआ कि दुःख-सुख अन्तःकरण के धर्म है जो केवल जाग्रत अथवा स्वप्न काल में ही प्रतीत होते है ।

जो पुरुष सुख-दुःख से मुक्त होना चाहे, वह अपने को इन्द्रियों और उनके कर्मों, अन्तःकरण और उसके धर्मों से न्यारा केवल सत्तामात्र निश्चय करे । किंचित्मात्र भी ममता या सम्बन्ध देहसंघात के कर्म या धर्म में न रखे । निरन्तर अपने साक्षी स्वरूप का स्मरण करता रहे । उसे स्वाभाविक ही परमानन्द अवस्था प्राप्त होगी, इसी का नाम बोध है ।

प्रश्न-५७ : एकाग्रता हेतु अभ्यास करने पर भी सफलता नहीं मिलती तब क्या करें ?

उत्तर : यदि कदाचित् किसी बलवान् कारण से एकाग्रता न हो सके तो अपने को साक्षी रूप निश्चय कर इसके भिन्न-भिन्न संकल्पों को अपने विनोद और विलास का कारण निश्चय करो । परन्तु यह संशय हृदय में कभी न लाओ कि मन का फुरना तुम्हारी मुक्ति या तुम्हारे निर्विकार स्वरूप में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न करेगा । तुम्हारा तो स्वरूप सदा मुक्ति रूप, जन्म-मरण से रहित समाधि उत्थान से भिन्न केवल विज्ञान रूप आकाशवत् सर्वदा पूर्ण है । इस अवस्था को विचार कर निर्विकल्पता और सहज अवस्था का रस प्राप्त करें ।

जिज्ञासु अपने स्वरूप का निश्चय इस प्रकार करे कि मैं वृत्ति की विक्षेपता और एकाग्रता का साक्षी सदा निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द स्वरूप, स्वस्थ चिदाकाश हूँ । अभ्यास से मेरे स्वरूप में अधिकता नहीं होती और अभ्यास के बिना अर्थात् वृत्ति एकाग्रता के बिना मेरे स्वरूप में

न्यूनता नहीं होती । मैं सदा एक रस, सत्तामात्र, ज्ञान स्वरूप अपने आप में स्थित हूँ । इस विचार के द्वारा वृत्ति के चंचल भाव में भी आनन्द अनुभव करें ।

जो मुमुक्षु अन्तःकरण की वृत्तियों को शान्त करना अपना कर्तव्य जानता है, उसे अखण्ड़ आनन्द की प्राप्ति कभी नहीं होगी । क्योंकि अन्तःकरण पांच भूतों का सूक्ष्म अंश है एवं दसों इन्द्रियों का ज्ञान इसी में रहता है । इसलीए यह जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में सदा स्फूरण रूप और चंचल ही बना रहता है । कदाचित् निद्रा, मूर्छा या समाधि में क्षणमात्र निश्चल भी हो जाता है परन्तु परिस्थिति जन्य यह निश्चलता एवं विकार, सोपाधिक क्षणिक और विनाशी है । इसलिये वृत्ति की किसी अवस्था पर दृष्टि नहीं रखते केवल अपने साक्षी, द्रष्टा स्वरूप पर ही दृष्टि रखते हैं ।

अतः हे आत्मन् ! आपको दुःख-सुख का साक्षी मानकर दुःख-सुख में समान बुद्धि रखना सबसे उत्तम समाधि अभ्यास है । इस प्रकार तत्त्व विचार से अपने चित्त को इस शान्त- अशान्त द्वन्द्व से मुक्त आनन्दित जानते रहें । वृत्तियों को शान्त एवं समाधिस्थ करने का अभ्यास न करें । अपने को अक्रिय, अचल, अडोल, स्वतः सिद्ध समाधि उत्थान, ज्ञान-अज्ञान से परे केवल अनुवभ मात्र निश्चय करें । जहाँ-जहाँ दृष्टि जावे, मन की गति हो वहाँ-वहाँ केवल सत् चित् आनन्द स्वरूप निजात्मा को ही देखें । ''यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधया'' मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार का साक्षी होकर इनके धर्भों से अलग रहना निर्विकल्प आत्म रस पाने का एकमात्र साधन है । मन रचित समस्त प्रपंच को मन सहित मिथ्या करके सत्य वस्तु द्रष्टा, साक्षी निज आत्म स्वरूप में अहं बुद्धि रूप स्थिति अर्थात् वह मैं हूँ इस प्रकार अपने होने का निश्चय करना चाहिये । ये ही जीवन् मुक्ति के विलक्षण आनन्द अनुभव करने का एकमात्र सर्व सुलभ सहज साधन है । इसी दृष्टि को यथार्थ दृष्टि कहते हैं जो जीवन्मुक्ति रूप है ।

प्रश्न-५८ : सब समय समाधि किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर : जब तक प्राण का शरीर के साथ सम्बन्ध है तब तक संकल्प-विकल्प अर्थात् स्फूरण शक्ति बनी रहती है । इसी स्फूरण शक्ति के द्वारा समस्त इन्द्रियाँ अन्तःकरण और दूसरे अंग अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं । इसलिए यह स्फूरण शक्ति जीवन का लक्षण है, स्फूरण रहित होना तो मृतक का लक्षण है । पहाड़ वृक्ष को बिलकुल स्फूरण नहीं होता सर्वदा समाधि रहती है, तो क्या यह वृक्ष, पाषाणादि की संकल्प रहित अवस्था को मोक्षरूपा या समाधिस्थ अवस्था कहा जा सकेगा ? यदि ऐसा ही है तो सुषुप्ति में सभी प्राणी संकल्प शून्यता को सहज ही प्राप्त हो जाते हैं किन्तु जाग्रत में पुनः वही द्वैत भासित होने लगजाता है । अतः संकल्प विकल्पता जीवन शक्ति है । इसके अवरूद्ध होने से शरीर की किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं हो सकेगी व शरीर अमंगल रूप हो जावेगा । इसलिए इन वृत्तियों रूप जीवन शक्ति को जीवन में बाधक न जानकर साधक जानों । यह परमात्मा की शक्ति होने से परमात्मा रूप ही है । स्फूरण के बिना मुक्ति पाने का विचार एवं तदार्थ वेदान्त श्रवण, मनन भी नहीं कर सकेंगे ।

आत्मा नित्य प्राप्त, नित्य-स्थित, अचल स्वतः सिद्ध और स्वस्थ है यह कदाचित् अपने स्वभाव को नहीं त्यागता । इसलिए उसे अन्य नहीं बल्कि अपना आपा अर्थात् स्वयं ही जानो । शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके कर्म तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं

''जगत् प्रकाश्य प्रकाशित आपू''

द्वैत का अत्यन्त अभाव है जब ऐसी अवस्था है तो किस कारण दोष दृष्टि धारण कर और किस अवस्था की इच्छा लेकर सर्वदा समाधि में रहना चाहते हो ? तुम्हारा स्वरूप स्वतः सिद्ध स्थित है । स्थित स्वरूप को स्थित करने का पुरुषार्थ अज्ञान से ही होता है । यदि समाधि यथार्थ होती तो यत्न के बिना सर्वदा प्राप्त रहती । किन्तु जब दृढ़ अभ्यास और दीर्घकाल तक

पुरुषार्थ करने के उपरान्त भी मनोलय सब समय हेतु नहीं होता, इससे निश्चय होता है कि यह अवस्था क्षणिक, मिथ्या और कल्पित है। इसलिए इस संशय को त्याग कर सहज और शान्ति से अपना जीवनकाल व्यतीत करना चाहिए। शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण को निर्मल एवं शान्त करने हेतु सुखद, उत्तम तथा स्वास्थ्यप्रद आहार, व्यवहार एवं विचार करें।

जब तक मन को आत्मा से भिन्न जानते रहोगे तब तक मन तुमको विश्राम नहीं लेने देगा। क्योंकि मन कोई भिन्न वस्तु नहीं है। आत्मा की चेतन शक्ति ही मन है। चेतन शक्ति का स्वभाव फुरना है और फुरने में शरीर, इन्द्रिय, मन की चेष्टा है, इसलिए यह मन का फुरना शरीर पर्यन्त रहेगा ही। मन को आत्मा से भिन्न निश्चय करना व इसे शांत करने का प्रयत्न असम्भव ही है। सहज व उत्तम उपाय यह है कि मन को उसके संकल्प सहित आत्मा ही निश्चय किया जावे। मन की यात्रा आत्मा से बाहर न देखो। जैसे तरंग की यात्रा जल से बाहर नहीं होती है उसी प्रकार मन रूप तरंग की यात्रा अपने अधिष्ठान रूप आत्म समुद्र से बाहर नहीं होती है। तरंग का स्वभाव अपने अधिष्ठान के राज्य में कलोल करना इधर-उधर क्रीड़ा करना है, किन्तु वह किसी भी काल में अपने अधिष्ठान जल को छोड़ बाहर नहीं जाती। वैसे ही मन भी यद्यपि चंचल है और इधर-उधर भटकने वाला है तथापि वह अपने अधिष्ठान आत्मा का त्याग नहीं करता इसलिए मन को आत्मा स्वरूप ही जानो। इस ज्ञान दृष्टि से मन के संशय को निवृत करो। मन कोई पृथक् वस्तु नहीं है चेतन ही स्वतः अपने स्वभाव में स्थित है। वह चेतन आत्मा आप स्वयं है। तब मन इधर-उधर कहाँ है ? अद्वैत सत्ता अपने आप में ही है। इस विचार से मन को शान्त रखो ?

प्रश्न-५९ : वृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्तःकरण और अज्ञान का जो ज्ञानाकार परिणाम होता है उसे वृत्ति कहते हैं। अर्थात् अन्तःकरण के द्वारा जिस विषय का 'इदम्'

रूप से भान होता है उस परिणाम को वृत्ति कहते हैं । जिन विषयों की दृश्य रूप से प्रतीति नहीं होती है उन्हें वृत्ति नहीं कहते हैं । जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, यह अन्तःकरण के परिणाम तो अवश्य है किन्तु इन समस्त अन्तःकरण के परिणामों को अद्वैत मत में वृत्ति नहीं कहा गया है तथा अज्ञान के परिणाम आकाशादि पंच भूतों को भी वृत्ति नहीं कहा जाता है केवल अन्तःकरण एवं अज्ञान के ज्ञानाकार परिणाम को ही ''वृत्ति'' शब्द से पारिभाषिक रूप में कहा जाता है ।

प्रश्न- ६० : वृत्ति ज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : वृत्ति ज्ञान प्रमारूप तथा अप्रमारूप से दो प्रकार का है ।

प्रश्न- ६१ : प्रमा ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, शब्द प्रमाण, उपमान प्रमाण, अर्थापत्ति प्रमाण और अनुपलब्धि प्रमाण इन प्रमाणों द्वारा जो विषय का यथार्थ बोध होता है उसे ''प्रमा ज्ञान'' कहते हैं ।

प्रश्न- ६२ : अप्रमा ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रमा ज्ञान उसे कहते हैं जो किसी प्रमाण से नहीं जाना जाता है किन्तु अन्य प्रकार से बोध होता है । अप्रमा-ज्ञान भी दो प्रकार का होता है उनमें एक यथार्थ और दूसरा भ्रम है । दोष जन्य ज्ञान को भ्रम कहते हैं ।

भ्रमज्ञानः- जैसे शुक्ति (सीप) में रजत ज्ञान सादृश्य दोषजन्य है, अतः वह भ्रम है । इसी प्रकार मिश्री में कटुता का ज्ञान पित्त-दोष जन्य है, चन्द्र में लघुता एवं अनेक वृक्षों में एकता ज्ञान दूरता रूप दोष जन्य है । अतः वे सब भ्रम रूप हैं, क्योंकि जहाँ और कोई दोष न हो वहाँ अविद्या स्वयं ही दोष जन्य रूप है । इसलिए दोष जन्य ज्ञान को ही ''भ्रम'' कहा जाता है ।

प्रश्न- ६३ : यथार्थ अप्रमा किसे कहते है ?

उत्तर : जो ज्ञान दोष जन्य न हो और इन्द्रिय अनुमान आदि प्रमाण से भी जन्य न हो किन्तु और किसी कारण से हो वह यथार्थ अप्रमा कहा जाता है । जैसे (१) स्मृति ज्ञान (२) सुख-दुःख का प्रत्यक्ष ज्ञान और (३) ईश्वर वृत्ति ज्ञान दोष जन्य नहीं अतः वे भ्रम नहीं; और वे प्रमाण जन्य भी नहीं; इसलिए वे प्रमा नहीं, किन्तु वे भ्रम तथा प्रमा से विलक्षण यथार्थ है । क्योंकि जिस ज्ञान के विषय का संसार दशा में बाध न हो वह ज्ञान यथार्थ कहा जाता है ।

(१) स्मृति ज्ञान का हेतु पूर्व अनुभव के संस्कार है । अतः जहाँ यथार्थ अनुभव से स्मृति हो, वहाँ स्मृति यथार्थ है और जहाँ भ्रम रूप अनुभव के संस्कार से स्मृति हो वहाँ अयथार्थ है । किन्तु किसी प्रमाण जन्य नहीं है । इसलिए प्रमा तो नहीं एवं दोष जन्य भी नहीं, इसलिए भ्रम भी नहीं किन्तु यथार्थ अप्रमा है ।

(२) धर्म-अधर्म के निमित्त से अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ का सम्बन्ध होने से अन्तःकरण के सत्वगुण एवं रजोगुण का परिणाम सुख-दुःखाकार होता है । वही सुख-दुःख का निमित्त है । उस धर्मादि के निमित्त से सुख-दुःख को विषय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति होती है । उस वृत्ति में आरूढ़ साक्षी सुख-दुःख को प्रकाश करता है; क्योंकि सुखाकार, दुःखाकार अन्तःकरण की वृत्ति किसी प्रमाण जन्य नहीं है । इसलिए यह भी प्रमा तो नहीं, किन्तु यथार्थ अप्रमा ही है । तथा कोई दोष जन्य न होने से भ्रम रूप भी नहीं है ।

(३) ईश्वर के ज्ञान, इच्छा व प्रयत्न माया की वृत्ति रूप है परन्तु वह जीवों के अदृष्ट (पुण्य-पाप) जन्य है किसी प्रमाण जन्य नहीं इसलिए प्रमा नहीं, दोष जन्य नहीं, इसलिए भ्रम भी नहीं किन्तु यथार्थ अप्रमा है ।

भ्रम रूप ज्ञान को संवादी तथा यथार्थ ज्ञान को विसंवादि कहते हैं । निष्फल प्रवृत्ति के जनक ज्ञान को संवादि तथा सफल प्रवृत्ति के जनक ज्ञान को विसंवादी कहते हैं ।

प्रश्न- ६४ : प्रमाण कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) शब्द (४) उपमान (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि भेद से छह प्रकार के होते हैं । प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) के करण (साधन) को ''प्रत्यक्ष प्रमाण'', अनुमिति-प्रमा के करण को ''अनुमान प्रमाण'', शाब्दि-प्रमा के करण को ''शब्द प्रमाण'', उपमिति-प्रमा के करण को ''उपमान प्रमाण'', अर्थापत्ति-प्रमा के करण को ''अर्थापत्ति प्रमाण'', और अभाव-प्रमा के करण को ''अनुपलब्धि प्रमाण'' कहते हैं ।

प्रश्न- ६५ : करण किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषयों का संयोग रूप व्यापार जिस साधन (करण) द्वारा प्राप्त होता है उसे 'करण' कहते हैं । जैसे शब्द श्रवण रूप व्यापार में श्रोत्रेन्द्रिय 'करण' है । अर्थात् जिससे कार्योत्पत्ति में विलम्ब न हो और अव्यवहित उत्तर क्षण में ही कार्योत्पत्ति हो जाय, ऐसा कारण ही करण हो सकता है । जैसे इन्द्रियों का अपने विषय से सम्बन्ध होते ही प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) रूप कार्य में कोई विलम्ब नहीं होता है, बल्कि अव्यवहित उत्तर क्षण में ही प्रत्यक्ष-प्रमा रूप कार्य की उत्पत्ति होती है । इसलिए इन्द्रियों के सम्बन्ध ही करण होने से उनके वे सम्बन्ध ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । बिना विषय सम्बन्ध के केवल इन्द्रियाँ करण नहीं है ।

प्रश्न- ६६ : वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार भ्रम ज्ञान किस प्रकार होता है ?

उत्तर : वेदान्त सिद्धान्त में तो सर्प भ्रम का विषय रज्जु नहीं, किन्तु अनिर्वचनीय सर्प ही है । एवं भ्रम ज्ञान इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होने वाला भी

नहीं । भ्रम ज्ञान अन्तःकरण का परिणाम नहीं है, किन्तु अविद्या का ही परिणाम माना गया है ।

सर्प के संस्कार वाले पुरुष की जब दोषयुक्त नेत्र दृष्टि अन्तःकरण से निकलकर नेत्र द्वार से होती हुई बाहर पड़ी हुई ''इदमाकार'' रस्सी से सम्बन्ध जोड़ती है, तब उसे रज्जु का विशेष धर्म जो रज्जुत्व है, वह नहीं भासता और रज्जु में जो मुंज रूप रज्जु के अवयव हैं, वे भी नहीं भासते, किन्तु रज्जु का सामान्य धर्म जो 'इदंता' वही भासता है । इस प्रकार अन्तःकरण नेत्र द्वारा रज्जु देश में जाकर 'इदमाकार' परिणाम को प्राप्त होता है । उस इदमाकार वृत्ति-उपहित चेतनस्थ अविद्या के सर्पाकार व ज्ञानाकार दो परिणाम होते हैं । जिस पुरुष को दंड, माला, भू-छिद्र आदि के संस्कार होते हैं, उस पुरुष को दोष सहित नेत्र का सम्बन्ध रज्जु से होकर उसे अविद्या के परिणाम दंड, माला, भू-छिद्र का ज्ञान होता है । जिस-जिस की वृत्ति-उपहित चेतनस्थ-अविद्या में जो-जो विषय उपजा है, वह-वह भ्रम दृश्य उस-उसको ही प्रतीत होता है दूसरे को नहीं । इस प्रकार वेदान्त मत में भ्रम ज्ञान अविद्या की वृति रूप है किन्तु इन्द्रिय जन्य नहीं है । यदि इन्द्रिय जन्य होता तो सभी पुरुषों को गाय, घोड़े की तरह भ्रम पदार्थ भी एक रूप प्रतीत होना चाहिये । किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है, एक ही भोडल में किसी को कांच, किसी को चांदी या रजत व किसी को कागज की प्रतीति होती है, अस्तु भ्रम इन्द्रिय जन्य नहीं है किन्तु अविद्या की वृत्ति रूप परिणाम है ।

प्रश्न- ६७ : अनुमान प्रमाण द्वारा वस्तु सिद्धि में किन-किन बातों का होना जरूरी है ।

उत्तर : अनुमान प्रमाण द्वारा जिस पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे अनुमिति प्रमा कहते हैं । तथा जिस लक्षण के द्वारा ज्ञान उदय होता है उसे 'अनुमिति' कहते हैं । जैसे पर्वत में धूम का ज्ञान तो प्रत्यक्ष होता है एवं धूम के ज्ञान से वहाँ अग्नि होने का अनुमान ज्ञान होता है । अतः धूम का प्रत्यक्ष

ज्ञान 'लि'-ज्ञान' कहलाता है । एवं अग्नि का ज्ञान अनुमिति रूप है ।

* जिस ज्ञान से साध्य ज्ञान हो उसे 'लि'' कहते है ।

* अनुमिति ज्ञान का विषय 'साध्य' कहलाता है ।

यहाँ अनुमिति ज्ञान का विषय अग्नि है एवं साध्य का बोध धूम के कारण हो रहा है इसलिए धूम लि' है ।

जहाँ दो पुरुषों का विवाद हो, उनमें से एक तो कहे कि पर्वत में अग्नि अनुमान प्रमाण से निर्णीत है, परन्तु दूसरा इस सिद्धान्त को न माने तो वहाँ धूम लक्षण से पर्वत में अग्नि के अनुमान करने वाला व्यक्ति अपने प्रतिवादी की निवृत्ति के लिए जो वाक्य प्रयोग करता है उनको परार्थानुमान कहते हैं । वेदान्त मत में ऐसे वाक्य के तीन अवयव होते हैं (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु और (३) उदाहरण ! जैसे पर्वते वह्निमान् (२) धूमात (३) यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसः इतना महावाक्य है ।

(१) साध्य विशिष्ट पक्ष का बोधक वाक्य 'प्रतिज्ञा-वाक्य' कहा जाता है । वह ''पर्वतो वह्निमान्' इतना वाक्य है, अर्थात् 'अग्नि विशिष्ट पर्वत है' । इस वाक्य से ऐसा बोध होता है । यहाँ अग्नि तो साध्य है और 'पर्वत' पक्ष है, क्योंकि अनुमिति का जो विषय होता है वह 'साध्य' कहा जाता है । यहाँ अनुमिति का विषय अग्नि (वह्नि) है इसलिए वह साध्य है । यहाँ पर्वत अंश तो इन्द्रिय गोचर है, किन्तु अग्नि अनुमिति का विषय है । याने एक ही ज्ञान में चाक्षुषता और अनुमिति दो धर्म है । जिस अधिकरण (साध्य प्राप्ति स्थल) में साध्य की प्राप्ति का अनुमिति रूप निश्चय हो जाय वह 'पक्ष' कहलाता है । यहाँ पर्वत पक्ष रूप में है; क्योंकि साध्य अग्नि की अनुमिति रूप निश्चय का अधिकरण है ।

(२) प्रतिज्ञा-वाक्य के पश्चात् जो लि' का बोधक वचन है वह 'हेतुवाक्य' कहलाता है । ऐसा वाक्य धूमात् है ।

(३) हेतु व साध्य का सहचर बोधक (साथ रहने वाला) जो द्रष्टान्त प्रतिपादक वचन, वह 'उदाहरण वाक्य' कहलाता है । जहाँ वादी-प्रतिवादी का विवाद न रहे, किन्तु दोनों का निर्णीत अर्थ रहे, उसको द्रष्टान्त कहते हैं ऐसा महानस है ।

प्रश्न- ६८ : वेदान्त मत में परार्थानुमान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर : वेदान्त-वाक्यों से जीव में ब्रह्म का अभेद निर्णीत है । वह अभेद अनुमान-प्रमाण से भी इस प्रकार सिद्ध होता है:-

(१) जीवो ब्रह्माभिन्नः, (२) चेतनत्वात्, (३) यत्र यत्र चेतनत्वं तत्र तत्र ब्रह्माभेदः यथा ब्रह्माणि । चेतन रूप होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है । ब्रह्म की भाँति जहाँ-जहाँ चेतनत्व है वहाँ-वहाँ ब्रह्म का अभेद है जैसे ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप होने से ब्रह्म अभिन्न है ।

इन तीन अवयवों का समुदाय रूप यह महावाक्य है, इसलिए यह परार्थानुमान कहलाता है । यहाँ 'जीव' पक्ष है । 'ब्रह्माभेद' साध्य है । चेतनत्व हेतु है । ब्रह्म द्रष्टान्त है । अर्थात 'जीवो ब्रह्माभिन्नः'यह प्रतिज्ञा वाक्य है । चेतनत्वात् यह हेतु वाक्य है । और यत्र यत्र चेतनत्वं तत्र तत्र ब्रह्माभेदः यथा ब्रह्माणि, यह उदाहरण वाक्य है ।

यदि यहाँ कोई ऐसी शंका करे कि जीव में चेतनत्व रूप हेतु तो है, परन्तु ब्रह्माभेद रूप साध्य नहीं है । तो उसके तर्क की निवृत्ति इस प्रकार है :-

यदि जीव में चेतनत्व रूप हेतु मानकर भी ब्रह्माभेद रूप साध्य न माना जाय तो ''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'' चेतन को अद्वितीय प्रतिपादन करने वाली श्रुति से विरोध होगा । दूसरा द्रष्टान्त यह है :-

व्यावहारिक प्रपञ्चो मिथ्या, ज्ञान निवर्त्यत्वात्, यत्र-यत्र ज्ञान

निवर्त्यत्वं तत्र-तत्र मिथ्यात्वं, यथा शुक्ति रजतादौ है । (ज्ञान से) निवर्त्य होने से व्यावहारिक प्रपञ्च मिथ्या है; क्योंकि जहाँ-जहाँ ज्ञान से निवर्त्यत्व होता है वहाँ-वहाँ शुक्ति में रजतादि की भांति मिथ्यात्व ही होता है ।

यहाँ व्यावहारिक प्रपञ्च 'पक्ष' है 'मिथ्यात्व' साध्य है । ज्ञान निवर्त्यता हेतु है और 'शुक्ति-रजतादि' द्रष्टान्त है । इस स्थल पर 'व्यावहारिक प्रपञ्चो मिथ्या' यह प्रतिज्ञावाक्य है । ज्ञान निवर्त्यत्वात् यह हेतु वाक्य है और यत्र-यत्र ज्ञान निवर्त्यत्वं तत्र-तत्र मिथ्यात्वं यथा शुक्ति रजतादौ, यह उदाहरण वाक्य है । यदि यहाँ भी ज्ञान से प्रपंच की निवृत्ति तो माने किन्तु उसे मिथ्या न माने तो ज्ञान से असत् मिथ्या, भ्रम की ही निवृत्ति होती है ज्ञान से सत्य की निवृत्ति तो कदापि नहीं होती है । एवं ज्ञान द्वारा प्रपंच की निवृत्ति प्रतिपादन करने वाली श्रुति-स्मृति वचन से विरोध होगा यदि ज्ञान द्वारा प्रपंच निवृत्ति को मिथ्या रूप न माने तो ।

इस प्रकार वेदान्त वाक्यों से जो अद्वितीय ब्रह्म का निश्चय हुआ है उसमें जीव ब्रह्म के अभेद की असम्भावना की निवृत्ति और सम्भावनामात्र की सिद्धि का हेतु अनुमान-प्रमाण है । वेदान्त वाक्य के सिवा अन्य किसी भी प्रमाण की ब्रह्म में प्रवृत्ति नहीं यही अपूर्वता है ।

प्रश्न- ६९ : शब्द की शक्ति वृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : पद व अर्थ का परस्पर जो सम्बन्ध है उसको 'वृत्ति' कहते है वह वृत्ति दो प्रकार की होती है, उनमें एक शक्ति रूप वृत्ति और दूसरी लक्षणा रूप वृति कहलाती है । वेदान्त मत में शब्द उच्चारण के साथ ही श्रोता के मन में जो अर्थ जनाने की सामर्थ्य है उसे 'शक्ति' कहते हैं । जैसे तन्तु में पट और बह्नि में दाह करने की जो सामर्थ्य है उसे शक्ति कहते हैं । तैसे ही पदों में अपने अर्थ के ज्ञान की जो सामर्थ्य है वह शक्ति कहलाती है । अर्थात् जिस अर्थ में पद की शक्ति हो, वह अर्थ उस पद का 'शक्यार्थ' कहलाता है और जिस पद के शक्यार्थ का जिस अर्थ (परम्परा) से सम्बन्ध हो वह अर्थ

उस पद का 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है । इस प्रकार पद का अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध और परम्परा सम्बन्ध के भेद से वृत्ति दो प्रकार की है (१) शक्य (२) लक्ष्य ।

जैसे भोजन करते समय ''सैन्धव लाओ'' के उच्चारण करते ही श्रोता (भोजन देने वाला व्यक्ति) नमक को प्रदान कर देता है यहाँ सैन्धव पद का साक्षात् सम्बन्ध लवण ज्ञान हो जाने से यह पद की 'शक्य' वृत्ति कहलाती है । किन्तु जहाँ पद अर्थ के 'शक्य' का जो सम्बन्धी अर्थ है उसे पद की 'लक्षणा' वृत्ति कहते है । जैसे घर बाहर जाते समय ''सैन्धव लाओ'' का लक्षणार्थ घोड़ा ही समझा जाता है ।

जैसे ''गंगायो ग्रामः'' (गंगा में ग्राम है), यहाँ 'गंगा' पद की शक्ति प्रवाह रूप जल में है इसलिए प्रवाह रूप जल गंगा पद का 'शक्य' अर्थ है और उस प्रवाह का तीर से संयोग सम्बन्ध है । इस प्रकार गंगा में ग्राम है, पद का गंगा तट अर्थ से जो परम्परा सम्बन्ध है वह लक्षणा कही जाती है । क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध वाले से जो सम्बन्ध है वह ''परम्परा सम्बन्ध'' कहलाता है । यहाँ गंगा पद का शक्ति रूप सम्बन्ध तो प्रवाह से है ओर प्रवाह से तीर का संयोग है, इसलिए 'गंगा' पद का तीर से अपने शक्य के संयोग द्वारा परम्परा सम्बन्ध है वही लक्षणा कही जाती है ।

यह लक्षणा भेद से तीन प्रकार की होती है (१) जहत (२) अजहत और (३) जहताजहत अथवा भागत्याग ।

(१) जहाँ शक्य की प्रतीति न हो, किन्तु शक्य सम्बन्धी की ही प्रतीति हो वहाँ 'जहतलक्षणा' होती है । जैसे मोहन मोती झील में रहता है ।

(२) जहाँ शक्य के सहित शक्य-सम्बन्धी की प्रतीति हो वहाँ 'अजहतलक्षण' होती है जैसे लाल दौड़ता है ।

(३) जहाँ शक्यार्थ के एक देश को त्यागकर अन्य देश के ग्रहण

में वक्ता का तात्पर्य हो, वहाँ भाग त्याग लक्षणा होती है । जैसे ''यह वह मीरा है ।''

प्रश्न- ७० : वैदिक वाक्य के तात्पर्य-बोधक षड् लि' कौन से है ?

उत्तर : (१) उपक्रम और उपसंहार की एकता (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति ।

उपरोक्त छहों लि ीं द्वारा ही वैदिक-वाक्यों का तात्पर्य जाना जाता है इसलिए ये तात्पर्य बोधक लि' कहलाते हैं । जैसे धूम रूप लि' से अग्नि जानी जाती है अतः धूम अग्नि का लि' कहा जाता है ।

उपनिषद् रूप वेद के उपक्रमोपसंहारादि तो अद्वितीय ब्रह्म में ही है इसलिए अद्वितीय ब्रह्म में ही उनका तात्पर्य है । जिस प्रकार उनका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में है उन लि ीं का प्रकार नीचे स्पष्ट किया जाता है ।

(१) छान्दोग्य-उपनिषद् षष्ठाध्याय का उपक्रम अर्थात् आरम्भ अद्वितीय ब्रह्म से ही है और उपसंहार अर्थात् समाप्ति भी अद्वितीय ब्रह्म में ही है । जो अर्थ आरम्भ में हो और समाप्ति भी उसी अर्थ में हो वहाँ उसी अर्थ में 'उपक्रमोप संहार की एक रूपता' कही जाती है ।

(२) पुनःपुनः आरंभ हुए कथन का प्रतिपादन नाम 'अभ्यास' है । छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठाध्याय में नव बार 'तत्त्वमसि' महावाक्य को दोहराया है इसलिए अभ्यास भी अद्वितीय ब्रह्म में है ।

(३) जीव-ब्रह्म की अभिन्नता के सम्बन्ध में उपनिषदों से भिन्न अन्य किसी प्रमाण से बोध नहीं होने का नाम ही यहाँ अपूर्वता है । इसलिए अद्वितीय ब्रह्म में प्रमाणान्तर से अज्ञातता रूप अपूर्वता है ।

(४) अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान से अज्ञान रूप मूल सहित शोक-मोह की निवृत्ति 'फल' कहा जाता है ।

(५) स्तुति अथवा निंदा का बोधक वचन अर्थवाद कहलाता है ।

अद्वितीय ब्रह्म की स्तुति तो उपनिषदों में स्पष्ट है ।

(६) जो अर्थ कथन किया है उसको शंका रहित निश्चय कराने में जिन अनुकूल युक्तियों का उपयोग किया जाता है उन युक्ति को उपपत्ति कहते हैं । ब्रह्म से जीव का अभेद कथन के लिए कारण से कार्य की अभेद रूपता अनेक द्रष्टान्तों से की गई है । जैसे वट बीज का द्रष्टान्त, नदियों का समुद्र में मिलने का द्रष्टान्त, नमक व जल का द्रष्टान्त मधु का द्रष्टान्त, इत्यादि ।

प्रश्न- ७१ : अनुपलब्धि-प्रमाण क्या है ?

उत्तर : अनुपलब्धि-प्रमाण के जिज्ञासु को यह उपयोग है कि ''नेहनानास्ति किञ्चन्'' (अर्थात् यहाँ नानात्व कुछ भी नहीं है) इत्यादि श्रुति त्रिकाल में प्रपंच का जिस प्रकार अभाव कहती है, वह परमार्थ से नही कहती है, क्योंकि अनुभव सिद्ध बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, सुख-दुःख प्रदाता प्रपंच का स्वरूप से निषेध ब्रन्ध्या पुत्रवत् नहीं बनता है । श्रुति का आशय यही है कि यह प्रपंच परमार्थ से नहीं है । इस प्रकार प्रपंच का सत् रूप करके अभाव श्रुति सिद्ध तो है ही और अनुपलब्धि-प्रमाण से भी उसकी सिद्धि होती है याने प्रपंच के मिथ्यात्व का ही प्रमाण मिलता है अर्थात् :-

यदि यह प्रपंच परमार्थ रूप से होता तो जैसे इस प्रपंच की प्रतीति अपने जाग्रत तथा स्वप्नकाल एवं अज्ञानकाल में होती है । वैसे ही इसकी अपने काल से पृथक् सुषुप्ति एवं समाधि अवस्था या ज्ञानकाल में भी होना चाहिये । किन्तु इसकी उपलब्धि तो केवल अपने काल अज्ञान एवं जाग्रत अवस्था में ही होती है । परमार्थ रूप से सभी अवस्था तथा सभी कालों की भ्रम प्रतीति से पूर्व तथा भ्रम निवृत्ति के बाद उपलब्धि नहीं होती है । इसलिए इस प्रपंच का परमार्थ रूप से अभाव है ऐसा अनुपलब्धि-प्रमाण द्वारा जाना जाता है ।

यह प्रपंच मनोमय ही है; क्योंकि मन के विलय हो जाने के बाद निर्विकल्पावस्था (समाधि, सुषुप्ति) में अद्वितीय ब्रह्म मात्र शेष रहता है ।

वहाँ समस्त अनात्म दृश्य प्रपंच का पूर्ण अभाव प्रतीत होता है । यदि दृश्य प्रपंच मानस न होता तो मन के लय से प्रपंच का लय नहीं होना चाहिये था; क्योंकि अन्य के विलय से अन्य का अभाव नहीं होता । इसलिए मन के विलय के बिना सकल द्वैताभाव की प्रतीति नहीं होने से यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त द्वैत प्रपंच मनोमात्र है । मन के विलय से सकल द्वैत का विलय उपपाद्य है और ज्ञान उसका अर्थापत्ति प्रमाण है । सकल द्वैत के प्रति मानसता उपपादक है । और उसका अर्थापत्ति प्रमा है ।

प्रश्न- ७२ : वेदान्त मत में विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान किस प्रकार होता है ?

उत्तर : जहाँ विषय-चेतन से प्रमाण-चेतन का अभेद हो वही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है । अर्थात् जहाँ विषय सम्मुख हो वहाँ तो अन्तःकरण की वृत्ति जब इन्द्रिय द्वार से निकल विषय देश में जाती है तब वृत्ति का विषयाकार परिणाम हो जाता है । वहाँ विषय एवं वृत्ति का अभेद हो जाता है वहाँ वृत्ति में आरूढ़ चैतन्य (वृत्ति अवच्छिन्न चेतन) तो इन्द्रिय रूप प्रमाण उपाधि से प्रमाण-चेतन कहा जाता है और विषय देश में आया हुआ चेतन विषय-चेतन कहलाता है । वास्तव में तो प्रमाण-चेतन और विषय-चेतन स्वरूप से तो सदा एक ही है, केवल उपाधि भेद से ही प्रमाण-चेतन तथा विषय-चेतन का भेद प्रतीत होता है ।

यदि उपाधि भिन्न देश में हो तो उपहित का भेद प्रतीत होता है । परन्तु उपाधि यदि एक ही देश में हो तो उपहित का भेद नहीं रहता । जैसे जहाँ घट और घट का रूप एक देश में रहते हैं वहाँ घटोपहित और घटरूप उपहित आकाश एक ही होता है और जहाँ मठ के अन्दर घट हो वहाँ भी घटोपहित आकाश मठोपहित आकाश से भिन्न नहीं होता ।

इस प्रकार जब तक वृत्ति व विषय भिन्न देश में रहते हैं तब तक तो वृत्ति उपहित चेतन और विषय उपहित चेतन भिन्न-भिन्न से होते है, परन्तु

जब वृत्ति विषय देश में पहुँच अभेदता को प्राप्त हो जाती है तब वृत्ति चेतन भी विषय चेतन ही होता है । इसलिए वृत्ति चेतन का विषय चेतन से कोई भेद नहीं रहता, किन्तु एकता ही होती है । जब वृत्ति विषय देश में जाती है तब द्रष्टा के अन्तःकरण से लेकर विषय पर्यन्त वृत्ति का आकार होता है । इसलिए विषय-देश से बाहर भी (शरीर से विषय के मध्य की दूरी तक) वृत्ति का स्वरूप होने से यद्यपि वृत्ति-चेतन विषय-चेतन से भिन्न भी है; तथापि उस काल में वृत्ति से भिन्न देश में विषय नहीं है । इसलिए विषय-चेतन का वृत्ति-चेतन से अभेद कहा गया है । जहाँ दोनों का परस्पर अभेद कहा गया है, वहाँ उसका अभिप्राय यही है कि जितना वृत्ति भाग विषय देश में है उतना वृत्ति भाग से उपहित चेतन, विषय उपहित चेतन से पृथक् नहीं है इस प्रकार जहाँ वृत्ति-चेतन का विषय-चेतन से अभेद हो, वहाँ ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

प्रश्न- ७३ : परोक्ष ज्ञान किस प्रकार होता है ?

उत्तर : जहाँ वृत्ति-चेतन का विषय-चेतन से अभेद नहीं होता, वहाँ ज्ञान परोक्ष कहलाता है । संस्कार जन्य अन्तःकरण की वृत्ति शरीर के अन्दर ही होती है और उसका विषय देशान्तर में होता है अथवा नष्ट हो जाता है इसलिए वृत्ति चेतन का विषय-चेतन से अभेद न होने से स्मृति ज्ञान भी परोक्ष ही है ।

प्रश्न- ७४ : प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान किसे कहते है ?

उत्तर : जिस पदार्थ के पूर्व अनुभव संस्कार हृदय में हो और इन्द्रिय का उससे संयोग भी ही जाय वहाँ ''सोऽहम्'' (वही यह है) ऐसा ज्ञान होता है इसको ''प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान'' कहते हैं । यहाँ वृत्ति-चेतन का विषय-चेतन से अभेद होने से प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है ।

प्रश्न- ७५ : अभिज्ञा-प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ केवल इन्द्रिय जन्य वृत्ति ही हो और पूर्व अनुभव के संस्कार न हो, वहाँ केवल ''अयम्'' अर्थात् 'यह' ऐसा ही प्रत्यक्ष होता है और इसको अभिज्ञा प्रत्यक्ष कहते हैं ।

प्रश्न- ७६ : इन्द्रिय जन्य ज्ञान के अलावा भी विषय किस प्रमाण से प्रत्यक्ष होता है ?

उत्तर : जहाँ शब्द प्रमाण जन्य भी विषय वृत्ति देश में हो (शरीर से बाहर न हो) वहाँ भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है । जैसे दशमाँ तू है ('दशमस्त्वमसि') इस वाक्य से उत्पन्न हुई वृत्ति के देश में ही विषय होता है इसलिये कहीं शब्द प्रमाण जन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है । महावाक्य जन्य ब्रह्माकार वृत्ति और ब्रह्मात्मा तो दोनों एक देश में ही होते हैं इसलिए महावाक्य जन्य ब्रह्मात्म-ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है ।

प्रश्न- ७७ : अद्वैतवाद का मुख्य सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर : एकमात्र चेतन सत्य है और उससे भिन्न सभी प्रपंच मिथ्या है । अनिर्वचनीय को ही मिथ्या कहते हैं अर्थात् सत्-असत् से विलक्षण प्रतीति को ही अनिर्वचनीय कहते हैं । इसलिए चेतन से भिन्न दृश्य पदार्थ को सत्य कहने मात्र से ही महादोष होता है । बल्कि चेतन से भिन्न पदार्थ में अनिर्वचनीयता प्रसिद्ध ही है । यदि युक्ति पूर्वक विचार किया जाय तो किसी भी अनात्म पदार्थ का सत्य स्वरूप सिद्ध नहीं होता । फिर भी उनका सत्य स्वरूप सिद्ध न होते हुए वे प्रतीत होते हैं, इसलिए वे असत् भी नहीं है बल्कि सभी अनात्म पदार्थ सत-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय हैं ।

सिद्धान्त में कोई भी अनात्म पदार्थ सत्य नहीं है । किन्तु सकल प्रपंच गन्धर्वनगर के समान ''दृष्ट नष्ट'' स्वभाव है और जाग्रत पदार्थों में स्वप्न से किंचित् भी विलक्षणता नहीं है, यद्यपि शुक्ति में रजत तो प्रातिभासिक और शुक्ति व्यावहारिक है । इस दृष्टि से अनात्म पदार्थों में परस्पर मिथ्यात्व

व सत्यत्व की जो विलक्षणता कही गई है । वह असंधति (तारा) न्याय से स्थूल बुद्धि वाले जिज्ञासुओं को अद्वैत बोध में प्रवेश कराने के लिए कही गई ।

यदि स्थूल दृष्टि (बुद्धि) वाले को तत्त्व बोध से पूर्व ही मुख्य सिद्धान्त ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' ''तत्त्वमसि'' कह दिया जाय तो अनात्मा देह, धन, पुत्र, स्त्री आदि में सत्यत्व की भावना वाला पुरुष, सिद्धान्त के अलौकिक, अद्‌भुत अर्थ को सुन शास्त्र से विमुख हो जायगा एवं (दृश्य से पृथक् असंग निर्विकार द्रष्टा आत्मा के बोध) से भ्रष्ट हो जायगा ।

इस अभिप्राय से अध्यस्त पदार्थों की प्रतीति मात्र होने से प्रातिभासिक एवं व्यवहार योग्य वस्तु की व्यावहारिक सत्ता कथन की गई है और चेतन की पारमार्थिक सत्ता है । इस प्रकार जब उसकी बुद्धि में चेतन से प्रपंच की अल्प (न्यून) सत्ता आरूढ़ हो जाय, तब स्वप्न-द्रष्टान्त और वेदान्त के निषेध रूप वाक्यों से वह स्वयं सभी अनात्म पदार्थों को प्रतिभासिक सत्ता स्फूर्ति शून्य जान लेवेगा । केवल इसी आशय से अद्वैत अखंड सत्ता में भेद आरोपित किया है ।

नित्य मुक्त आत्म स्वरूप के अज्ञान से दुःखों के छूटने के लिए और अखण्ड सुख की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कर्तव्य बुद्धि द्वारा कर्म करके अनेकों क्लेश भोगे जा रहे हैं । उस कर्तव्य बुद्धि जन्य क्लेशों से छुटकारा पालेना, वेदान्त श्रवण का एकमात्र फल है । इसके अतिरिक्त वेदान्त श्रवण से आत्मा में बंध का नाश किया जायगा, अथवा परमानन्द को प्राप्ति रूप मोक्ष पाया जायगा ऐसा फल कदापि न समझें; क्योंकि वेदान्त श्रवण से पहले ही आत्मा नित्य मुक्त ही है उसमें बंध का लेश भी नहीं । अत्यन्त असत् बंध की प्रतीति होती है इसलिए भ्रम की निवृत्ति हेतु वेदान्त श्रवण में प्रवृत्ति होती है । और जिसको बंधन भ्रम अपने में प्रतीत नहीं होता, उसकी इस निमित्त प्रवृत्ति भी नहीं होती सम्पूर्ण अद्वैत ग्रन्थों का इसी पक्ष में

तात्पर्य है ।

प्रश्न ७८ : आत्म ज्योति को स्वयं प्रकाश क्यों कहते हैं ?

उत्तर : जो अपने प्रकाश में अन्य प्रकाश की अपेक्षा रहित हो और सकल का प्रकाशक हो वह '' स्वयं प्रकाश'' कहा जाता है । परन्तु इस स्वयं प्रकाश अवस्था का अनुभव जाग्रत अवस्था अथवा सुषुप्ति अवस्था के द्वारा निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जाग्रत अवस्था में सूर्य तथा नेत्र इन्द्रिय द्वारा समस्त व्यवहार होता हुआ सा प्रतीत होता है इस कारण आत्मा स्वयं ज्योति, स्वयं प्रकाश है ऐसा अनुभव नहीं कर पाता । सुषुप्ति-अवस्था में स्थूल व्यवहार नहीं रहता इस कारण वहाँ भी स्वयं प्रकाशता का बोध नहीं होता । केवल स्वप्नावस्था में स्वयं प्रकाश आत्मा के सिवाय किसी अन्य प्रकाश का सद्भाव नहीं पाया जाता है, कि जिसे स्वप्नावस्था का प्रकाशक कहा जाय । क्योंकि स्वप्न में बिना इन्द्रिय व्यापार समस्त प्रतीति स्वयं प्रकाश आत्मा से ही प्रकाशित होती है । सोते हुए पास के मित्र को हम देखते रहते हैं कि वह एकदम बिलकुल निष्चेष्ट सोया पड़ा है, किन्तु वह उठने पर अपने साथी से नानाविध कर्मों का दृश्यों का कथन स्वप्न के से जागने पर कहता है । जबकि उसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलक में स्वप्न समय निश्चल ही प्रतीत हो रही थी ।

प्रश्न ७९ : वृत्ति की दृश्यकारता व निषेधाकारता से क्या समझना चाहिये ?

उत्तर : दृश्याकारता व निषेधाकारता दोनों वृत्तियों द्वारा ब्रह्म का स्पर्श नहीं किया जा सकता है । दृश्याकारता वृत्ति उसे कहते है, जिसे दृश्य की आकारता है । अर्थात् जब तक हम् वृत्ति को वृत्ति के रूप में देखकर उससे ब्रह्म का अनुभव करना चाहते हैं या जब तक हम सोचते रहते हैं कि वृत्ति को ब्रह्माकार बनाकर उसे वृत्ति से ब्रह्म का अनुभव करेंगे तब तक हमको स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि वृत्ति विद्यमान है तो उसका आकार भी

है । जैसे मैं, द्रष्टा, साक्षी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द, आत्मा हूँ, तो यह आकारता तो दृश्य कोटि में आ जातो है । तब यह ब्रह्म का स्पर्श कैसे कर सकती है ? उसी प्रकार निषेधाकारता से तात्पर्य है, जब तक हमारी यह वृत्ति बनी हुई है कि हम वृत्ति का निषेध करते हैं, तब तक वह हमारे उपयोगी नहीं हो सकती । हमारी पूर्णता का बोध नहीं माना जा सकता है । जब तक कि निषेधात्मक कोई भी वृत्ति-विषय हमारे लिये बना रहता है कि यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ । तो इस प्रकार वृत्ति बनाने वाला अभी अपने को आधा ही जान रहा है, पूर्ण नहीं जान पा रहा है । यदि यह मैं नहीं हूँ तब प्रश्न उठता है, अद्वितीय ब्रह्म सत्ता में यह फिर " यह नहीं" कहाँ से उपस्थित हो गया, जिसे तुम निषेध करते हो । अपनी पूर्णता तभी मानना चाहिये कि जब हमारे लिये नकारात्मक कुछ भी वृत्ति, अवस्था, वस्तु न रहे । अस्तु विधि-निषेध का जो प्रकाशक है वह मैं हूँ । वृत्ति के निषेध हो जाने पर जो शेष रहता है वृत्ति अभाव का प्रकाशक वह ब्रह्म मैं हूँ । वृत्ति को ब्रह्म में लगाने का प्रयत्न ही ब्रह्म का अज्ञान है । बह्मस्थ होने के लिये समस्त वृत्तियों का बाध कर साक्षी अनुभव करना ही आवश्यक है ।

■■■